महाभाव – दिनमणि श्रीराधाबाबा

(प्रथम खण्ड)

पृष्ठ संख्या 601-715 तक

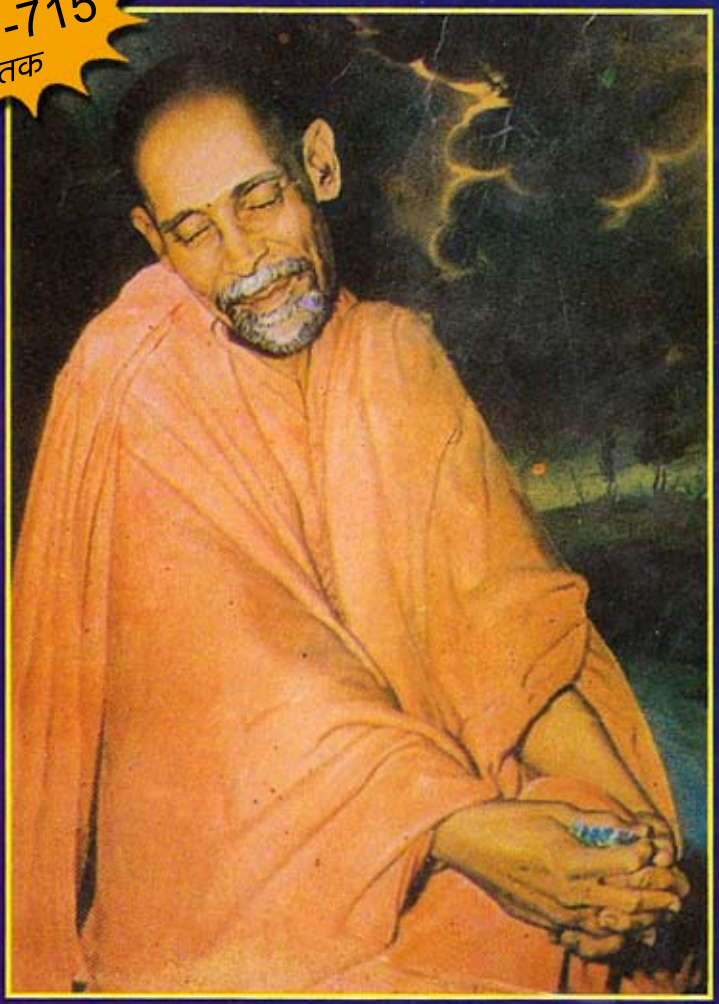

साधु कृष्णप्रेम

लहर भाव लालित बालुका सुभग व्रजबाल व्रत पूरण रास फलदा।
ललित गिरिवरधरण प्रिय कलिन्दनन्दिनी निकट कृष्णदास विहरत
प्रबलदा ।।"

"अरी, बहिन रवितनये ! तू तो महाभाव की साक्षात् मूर्ति है । रसिकशेखर रसराज नीलसुन्दर जो पुनीतों को पुनीत करने वाले हैं, उनके लीला जगत् - इस ब्रजप्रदेश को तू सदा अपनी प्रीतिरसरूप जलप्लावन से सिञ्चित कर परम पावन करती रहती है । तेरा नाम श्रीकृष्णप्रिया राधा से समत्व करता है। श्री किशोरीरानी वृषभानुतनया हैं और तू भानुतनया है । इस साम्यता के कारण प्रियतम प्राणवल्लभ नीलमणि को तेरा नाम परम रुचिर लगता है और तू उनके मन को निरन्तर मोहित करने वाली, उन्हें परम मन-भावन लगती है ।

"बताओ बहिन ! अखिल विश्व तो तेरे प्राणवल्लभ के एक रोम के कोट्यंश में ही स्थित है । हे कलिन्दनन्दिनी ! जब वे तेरे तट पर सुरभित सुमनों से आच्छादित कानन में पहुँचते हैं, तभी न उनकी चित्तभूमि में रस संवर्द्धन होता है । और उन नीलमयंक देव के ओठों पर ज्योंही स्मित विराजित होती है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड युगपत् एक साथ सुख समुद्र में परिस्नात हो जाते हैं। बहिन ! सब सिद्धियों की हेतु तो नन्दनन्दन की मन्द मुसकान ही है। और प्राण प्रियतम के मन्द मुसकाते अधरों पर वंशी केवल तेरे तट पर ही स्थापित होती है ।"

"हे तरणितनये ! ज्योंही ये प्रियतम तेरे तट पर बहती समीर का संस्पर्श पाते हैं, उनके कर स्वत: ही अपने अधर पल्लवों पर वेणु संस्थापित कर लेते हैं । अनन्त रससमुद्र हिलोरें लेने लगता है । अपनी प्रिया के अगणित यश एवं नामों के गायन में वे मुग्ध हो जाते हैं । विश्व में ह्लादिनी-सार-सर्वस्व भगवती श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपियों के सिवा और सिद्धि हो ही क्या सकती है ? उन्मद वेणुनाद के श्रवणगत होते ही कोटि-कोटि रमा-रति-वन्दिता गोपांगनाएँ तेरे तट पर अति प्रमुदित आकर्षित हुई चली आती हैं । और जैसे चकोर अनन्त लालसा से अपने प्रियतम चन्द्रमा को निहारता है, वे अपने नीलमयंक को अपलक निहारने लगती हैं । तेरे तट के दोनों ओर सुमनों से लदा परम सुरभित कानन है जो प्राणवल्लभ को अतिशय रमणीय है । वह अपार प्रेम बढ़ाने वाला है । अहा ! तेरा जल भी परम

निराविल निर्मल है । हे यमुने ! तेरे तट पर रजत चूर्ण सी अनमोल बालुका परम सुभग है । गोपियों को अपनी सम्पूर्ण प्रीति साधना का प्रत्यक्ष फल प्रियतम श्यामसुन्दर का अंग-संग वहीं प्रथमतः रास के समय प्राप्त हुआ था।"

"अहा ! वह कैसा सुभग काल था जब सुदक्ष चकोरी श्रेणी-सी गोपियाँ कृष्ण शशधर को देखकर तेरे बालुका प्रदेश में एक सुभगस्थल पर एकत्रित हो गयी थीं । श्याममयंक के चतुर्दिक समवेत (एकत्र) हुईं विरहानल से संतप्त उन व्रज ललनाओं की कैसी झाँकी थी । अहा ! प्रियतम श्याममयंक के परम सुखद शीतल, शंतम सौन्दर्यसिन्धु का वह अवगाहन कैसा मादक था ? इसे भला कौन वाणी दे सकता है ? इसे तो गूंगे के गुड़-स्वाद की तरह वही केवल अनुभव कर सकता है जिसके नयनों में वह रूप सुधोदधि कभी अचिन्त्य सौभाग्यवश उच्छलित हो उठा हो ।

"महाभागा गोपियों की तन-मन की सम्पूर्ण ज्वाला पलक पड़ते न पड़ते प्रशमित हो जाती है । उनके अनादि अनन्त दुखों का सदा के लिये अवसान हो जाता है। उनके हृत्तल का अनुरागसिन्धु अनन्त ऊर्मियों से परिपूरित हो उठता है। उन्हें अपने प्रियतम के संग महारास फल की प्राप्त हो जाती है।"

"अहो, मेरे प्राणवल्लभ गिरिवरधारी की प्रिया कलिन्दनन्दिनी ! यह कृष्णदास भी तेरे निकट इसी प्रबल इच्छा की पूर्ति के लिये निवास कर रहा है।"

सारिका यमुना महारानी की स्तुति कर रही थी कि उसकी दृष्टि वहीं विचरते प्रियतम नीलसुन्दर पर पड़ जाती है । "अरे ! क्या ये शयन कक्ष से उत्थित होकर यमुना तट पर आ गये ?" वह आश्चर्य कर उठती है और देखती है कि एक पुष्पित कदंब के नीचे उसके प्रियतम खड़े हो गये हैं ।

अहा ! प्रियतम श्याम सुन्दर को अपने तट पर देखते ही कलिन्दनन्दिनी में कैसा उद्दाम अनुराग उमड़ पड़ा है । स्वप्न में भी प्रकृति ने ऐसे पद्मों की कल्पना नहीं की होगी जैसे वहाँ खिल रहे हैं। रवितनया ने अपने अञ्चल के अनन्त पद्मों में से कुछ सुन्दरतम पद्म एकत्रित किये और इस ढ़ेर में अपने कोष की श्री भी मिला दी, फिर इस ढ़ेर को उसने नन्दनन्दन के चरणों में पुष्पांजलि के रूप में समर्पित कर दिया । अहा ! एक से एक अप्राकृत सुन्दर पद्म भी पद्मावल्लभ प्राणप्रियतम नीलमयंकदेव की शोभा के सम्मुख तुच्छातितुच्छ अनुभूत हो रहे हैं। स्तब्ध होकर तरणितनया अपने प्रियतम को निरखने लगी । वह अपलक नेत्रों से प्रियतम को निहारती रही ।

तरणितनया की इच्छा हो रही है कि वह अपने प्राणसुन्दर के शीतल शंतम चरणों में सदा-सदा के लिये समाहित हो जाये।

रूप-शील गर्विता गोपी

और देखो ! देखो !! यह कौन गोपांगना है जो एक युवक के साथ घाट पर बँधी नाव पर आकर विराजित हो गयी है। संभव है, यह यमुना संतरण का मनोरथ किये है । अहा ! रत्नजटित मयूराकृति नाव पर इस गोपसुन्दरी का सौन्दर्य विलक्षण शोभा प्रसार कर रहा है ।

परन्तु क्या किसी ने उसे समझाया नहीं है कि यमुना तट पर निश्शंक आना-जाना सापद है । इस मार्ग में मयूर मुकुट धारण किये, पिंगल दुकूल पहने, अपने श्यामल सुन्दर तन में केसर युक्त चन्दन चर्चित किये हुए एक सुन्दर बालक घूमता रहता है । उसकी अंगकान्ति इतनी कमनीय है कि उस पर बस दृष्टि ही पड़नी चाहिये, फिर तो उसे देखते रहने में एक क्षण का भी व्यवधान इन नेत्रों को सहन नहीं होता । उसकी माधुरी के सम्मुख जब स्वयं मन्मथ भी लज्जित हो उठता है तो इन अबला गोपांगनाओं की बात ही क्या है ?

निश्चय ही इसको इसकी ननद ने बहुतेरा समझाया है । परन्तु यह रूप-गर्विता ही नहीं, अतिशय शील-गर्विता भी है । इसने नेत्रों में रोष भरकर अपनी ननद को बहुत धिक्कारा है ।

"तुम सभी व्रजेन्द्रपुरी की बनिताएँ अपने कर्तव्य, अकर्तव्य, धर्म, शील और ज्ञान को भी विस्मृत कर चुकी हो । तुम सभी ने व्रजेश के उस श्यामल किशोर को न जाने क्या से क्या मान लिया है ? तुम सभी अकारण ही इस किशोर के पीछे अपनी सम्पूर्ण मर्यादा, कुल-कीर्ति, लोक-लज्जा एवं स्वाभिमान तक को तिलांजलि दे चुकी हो । घर-द्वार की सब मर्यादा त्याग कर तुम अकारण उसके पीछे उन्मादिनी हो गयी हो।"

अपनी ननद को इस प्रकार कटूक्तियों से आहत करके ही यह अपने सहोदर भाई के संग यमुना-पार अपने पीहर जाने के लिये यहाँ घाट पर लगी नाव पर बैठी है । यह यमुना पार जाना चाहती है। इसे पता नहीं इस नीलमयंकदेव पर जब तक किसी की दृष्टि नहीं पड़ती तभी तक वह भले ही सयानापन बरत ले।

लो, विलक्षण रसिक नीलसुन्दर की दृष्टि इस गोपी पर पड़ ही गयी । धूँए का वितान तानकर यद्यपि हेमन्त ने इसे नन्दनन्दन की दृष्टि से बचाने की बहुत चेष्टा भी की । संभव है यशोदामैया अपने नीलमणि को हेमन्त के प्रकोप से बचाने वस्त्रों में ही छुपाये रखे एवं सूर्य ऊपर उठने तक बाहर न निकलने दे, इस प्रकार यह गोपी सकुशल यमुना पारकर अपने पीहर चली जाय--हेमन्त की योजना सर्वथा असफल हो गयी। हेमन्त की आँखों के सम्मुख ही नीलसुन्दर काली कमली ओढ़े नन्दभवन से बाहर निकल आये और पलक झपकते ही अपनी स्वाभाविक विश्वविमोहक ललित त्रिभंगी छबि धारण कर यमुनाघाट पर इस कदम्ब के नीचे खड़े हो गये । हेमन्त ने इस अभिमानिनी गोपी की दशा का अनुमान कर राशि-राशि ओस-कणों के रूप में अपने अश्रु-बिन्दु बिखेर दिये ।

सारिका हेमन्त के सभी प्रयासों को देख रही थी । वह जोर से बोल उठी -

सुनती हो कहा, भजि जाओ घरै
बिँध जाओगी नैन के बानन ते ।

परन्तु सारिका की उच्चस्वर में दी गयी चेतावनी को भी गोपी अनसुनी कर गयी । लो अब इस चापल्यसीम की चपलता देखो । यह रसिकशेखर नाव पर पहुँच गया है। देखो, गोपी ने अपनी ओढ़नी से नाभितक नीचा घूँघट खींच लिया । परन्तु इस नीलमणि की झाँकी उसे मिल ही गयी ।

अरे ! अरे !! गोपी के नयनों में श्याम रूपसुधा भर गयी । उसी समय 'कुहू' 'कुहू' करती कोकिला पुकार उठी । परन्तु अहा ! गोपी के श्रवणों में जो नीलसुन्दर ने अपनी रसमयी वाणी -"अरी, तू कौन की बेटी है, कौन गाँव से आयी है री ? - से मधुधारा बहा दी, कोकिल में कहाँ सामर्थ्य है कि उससे स्पर्द्धा कर सके । अरे, अरे, पवन ने श्रीकृष्णअंगों को छूकर गोपी के नासापुटों में एक विलक्षण सुरभि भर दी । ठीक इसी समय श्री कृष्ण के मुख कमल पर मन्द मुसकान छा गयी । अब तो गोपी की सभी इन्द्रियाँ चिपक गयीं इस सलोने श्याम शशधर पर । लो ! गोपी अपनी जन्म-जन्म की अर्जित अनन्त पुण्यराशि का फल पा गयी । योगीन्द्र-मुनीन्द्र-वशकारी मुसकान में मिलकर वह तन्मय हो गयी ।

अरे, नीली शैवालिनी के तट पर भीड़ लग गयी है । नख-शिख आभूषणों से सजी, नवीन परिधान पहने अपने भाई के साथ पीहर जाने को उद्यत नाव पर आसीन गोपी बाह्यज्ञानशून्य हो गयी है । उसका तपाये स्वर्ण-सा पिगंल सुन्दर कलेवर काँप रहा है । उसे कुछ भी सुध-बुध नहीं है। भावों की ऐसी उद्दाम आँधी उसके मानस में आ रही है कि उसे न गृह-ज्ञान है, न कुल-मर्यादा का । उसका सम्पूर्ण अस्तित्व ही कृष्णमय हो गया है; फिर भला वस्त्रों की किसे सुधि हो ? उसके सब परिवार के लोग इकठ्ठे हैं । वह अपनी ननद के गले लिपट गयी है । उसके नेत्र फव्वारों की तरह अश्रु-वर्षा कर रहे हैं । वह अति मंद स्वर में अपनी ननद को गीत सुना रही है:-

सजनी मोते नयन गये ।
अब तो आस नहीं आवन की हरि के अंग छये ।
जबते कमल नयन उन निरखे छिन महिं और भये ।
मिले जात हरदी चूना ज्यौं एक हि रंग रये ।
मोकौं तज भये आप स्वारथी बिसर सुमत्त भये ।
सूरश्याम के रूप समाने मानो बूँद तये ।

"अरी मेरी बहना ! क्या हुआ था मेरे साथ, तू सुन ले री ! मैं तो नीली शैवालिनी के तट पर लगी नाव पर आसीन केवट की प्रतीक्षा कर रही थी । अरी ! मुझे क्या पता, वहीं द्रुमजालों मे निलीन यह नन्दतनय भी वहीं खड़ा था । जैसे ही मुझे उसकी किंचित-सी झाँकी मिली मैंने अपनी नाभि तक लम्बा घूँघट निकाल अपने मुख को ढाँप लिया । नयन नाव की थली पर चिपका लिये । निम्न मुख कर लिया । परन्तु अरी ! इस नीलसुन्दर के श्रीअंगों से ऐसी अप्रतिम अमृतरस की धारा प्रसरित हो रही थी उसने सम्पूर्ण नौका को ही नीलमणि बना दिया । मेरा सहोदर ही नहीं, सम्पूर्ण प्रपंच ही मेरी दृष्टि से ओझल हो गया । मुझे तो यही प्रतीत हो रहा था-- मैं इस नीलमणि में डूब रही हूँ। यह एक अभिनव रसामृत वारिधारा है और मैं इसमें घुल रही हूँ।"

"अब तो बहिन ! मुझे कुछ भी नहीं दिखता । मुझे क्या हो गया है री ? तू भी मुझे मात्र एक पल धूमिल-धूमिल दिखती है, शेष सर्वत्र बस मेरे चतुर्दिक एक ही नीली श्यामल छबि भर गयी है।

"अरे ! अरे ! भाई ! मेरी ओर क्या देख रहे हो ? इसे देखो न। तुम्हारा अस्तित्व सफल हो जायगा। अरे, तुम सब भी इसकी मुसकान में मिलकर तन्मय हो जाओ न ? देखो, देखो ! चंचल अरुणिम नेत्रों की बंकिम चितवन से प्रीतिरस का परम मधुर निर्झर झर रहा है । कोटि-कोटि कंदर्पों को लज्जा के घन-आवरण में आवृत कर देने वाला अतुल सौन्दर्य इसके रोम रोम से प्रस्फोट हो रहा है । अरे ! शिरीष पुष्पों को अपनी सुभग चूड़ा में विजड़ित किये, मल्लिका पुष्पों की माला पहने विलक्षण सरसता का पुञ्ज वह जहाँ जाता है, शोभा बिखेरता जाता है ।"

"उसके सम्मुख मैं अवश हो गयी - इसमें मेरा दोष ही क्या है ? अरे इस नील-कमल-मुख की शोभा का क्या वर्णन करुँ ? कैसी मुनिमनमोहन इसकी छबि है । घन-कृष्ण-कुंचित-कुन्तलराशि-मण्डित इसके मस्तक पर मयूरपिच्छ-गुम्फित आभूषण धारण किया हुआ है । अरे, उस आभूषण पर पाटल पुष्पों की शोभा तो देखते ही बनती है । अहा, उसकी नीलग्रीवा में मुक्तामाल लहरा रही है । उसने बरबस मुझे अपने अंक में भर लिया री !"

"अरी बहिन ! अब तो मैं सर्वथा अंधी हूँ । मेरे नेत्र उसके मनोहारी परम रसमय रूप में डूब गये हैं । उनके अब लौटने की कोई आशा ही नहीं रही है । वे तो योगीन्द्र-मुनीन्द्र-विमोहन हरि के अंगों में ही चिपक गये हैं । जैसे हरदी चूना मिलकर रोली हो जाती है । वैसे ही अब वे कुछ और ही हो गये हैं । मुझे उन्होंने मतवाले होकर सर्वथा त्याग दिया है । जलते तवे पर जल की बूँद जैसे गिरते ही विलीन हो जाती है, वैसे ही मेरी अस्मिता उसके सुभग सुन्दरतम अंगों में मिलकर विलीन हो गयी है ।"

"अरी बहिन ! अब तो केवल एक ही लालसा शेष है । नेत्र भर कर मन्मथमथन अपने जीवनधन को बस निरन्तर निहारती रहूँ और उसके मनहरण संस्पर्श में यावज्जीवन गुँथी रहूँ ।"

और सारिका उन्मादिनी हुई एक ही रट, एक ही छन्द निरन्तर उच्चारित कर रही है । उसके लिये यह छन्द महामंत्र हो गया है।

सुनती हो कहा, भजिजाओ घरै, बिँध जाओगी नैन के बाननते ।।

और उसके पीछे सभी पक्षी यही गान कर रहे हैं । गोपावासों में अट्टालिकाओं में, गोशालाओं में, महलों-महलों में, यमुना के तट में, सरोवरों में, सर्वत्र एक ही गीत गुंजरित हो रहा है - **"सुनती हो कहा,भजि जाओ घरै, बिँध जाओगी नैन के बाननते ।**

सारिका प्रसंग : चौथी लीला
लीला लोक: नावलीला के दर्शन

सारिका पुन: उड़ चली। अतिशय सौभाग्यवती है, यह पक्षी । विलक्षण पंख हैं इसके । ये जब उड़ते है तो 'कृष्ण', 'कृष्ण' ध्वनि करते उड़ते हैं । इसके नेत्र सभी अवस्थाओं में सर्वत्र, स्वप्न-जागरण में ही नहीं, यहाँ तक सुषुप्ति में भी-- दर्शन करते रहते है। अपने प्रियतम नीलसुन्दर के चरण-सरोरुहों के। अहा ! अपने प्राणवल्लभ की नख-चन्द्रिका से उद्भासित होता रहता है सदा इसका हृदयदेश । इसका रोम-रोम प्रियतम प्राणवल्लभ के कमल-सदृश चरणों की अँगुलियों के सुकोमल संस्पर्श से रोमाञ्चित रहता है। सुघड़ नासा, सुन्दर भौंहें, झलमल करते कर्ण-कुंडल, बिम्ब-विडम्बी अधरों की कान्ति, सर्वव्यथाहारी स्मिति -- इन सबसे मंडित प्रियतम का मनोहारी मुखारविन्द इसके चित्त में अलंकार की तरह विजड़ित है । कदम्ब-किंजल्क के समान सुन्दर पीतवस्त्र-परिशोभित उनका नितम्बदेश और उस पर मेखला की सुखद रुनझुन ध्वनि से इसकी श्रवणेन्द्रियाँ निनादित होती रहती हैं ।

देखो ! वन के वृक्ष, उन पर आसीन शुक, पिक, कपोत, मयूर, चातक आदि विहंगम इसको उड़ती देख, इसके निर्मल पंखों से निकलती 'कृष्ण', 'कृष्ण' ध्वनि का अनाविल नाद सुनकर 'राधा', 'राधा' कह कर उच्च कण्ठस्वर से इसका अभिवादन करने लगते हैं ।

अहा ! इस 'राधा', 'राधा' नाम के सारिका के श्रवणपुटों में स्पर्श होते ही प्रिया की उत्कंठाभरी स्मृति ने सारिका को विह्वल कर दिया । अहा ! सारिका के तन-मन के अणु-अणु में पीयूष-कल्लोलिनी प्रवाहित हो उठी । सारिका की मन:स्थिति ऐसी हो गयी जैसे इसी क्षण रानी की अमृतमयी गोद में जाकर पंखहीन शावक की तरह गिर जाय ।

अहा ! सारिका के भीतर अमिलन की वेदना का वह बिन्दु सृष्ट हो गया, जहाँ आराध्य को मूर्त्त होना ही पड़ता है । फिर किशोरीरानी तो अनन्त वात्सल्यमयी हैं । उन्हें कोई उत्कंठातुर स्मरण करे और वे अभिव्यक्त नहीं हों, यह असंभव है । प्रीति के आह्वान की वे उपेक्षा भला कैसे कर सकती हैं?

सारिका प्रिया के लीला-लोक में पहुँच ही गयी ।

"अहा आश्विन मास है । शारदीय रजनी की शुभ्र ज्योत्स्ना वन-प्रान्तर को उद्‌भासित कर रही है । किञ्चित शैत्य का पुट लग गया है-- अरण्यस्थली पर । सारिका के उड़ते पंख थम गये हैं । वह पहुँच गयी है गिरिराज परिसर-स्थित मानसी गंगा में । राकाचन्द्र की ज्योत्स्ना प्राणाराध्या किशोरीरानी एवं प्राणसारसर्वस्व नीलचन्द्र में जल-केलिकी उत्सुकता जाग्रत कर देती है ।

कानन नें अपने कोश की अपरिसीम शोभा-सम्पदा प्रिया-प्रियतम के चरण-सरोजों में समर्पित कर दी । अपने अधिकृत समस्त चर-अचर-सहित वह उन युगल चरणों में स्वयं प्रतिपल न्यौछावर जो है । रसमत्त भ्रमरों की मधुर गुंजार, विहंगमों का अव्यक्त सुमधुर रव, मानसी गंगा का निराविल स्वच्छ शीतल सुमिष्ट जल, शीतल पद्‌म गंधवासित समीर का मन्द-मन्द प्रवहन - कानन ने प्रिया-प्रियतम के सम्मुख एक साथ समस्त उपकरण रख दिये । विकसित पद्‌मों की शोभा उनके नेत्रों में समा गयी । भ्रमरों के मञ्जुघोष से कर्णपुट पूरित हो उठे । सुखद अनिल ने उनके श्रीअंगों को शीतल सुस्पर्श दान किया । मानसी गंगा के स्वच्छ सलिल की मधुरिमा उनकी रसना में जा मिली। मानसी गंगा के चतुर्दिक स्थित वन, कुसुमों के अम्बार से लदा था । कल्प-पादपों की श्रेणी की श्रेणी सुवर्णलताओं से पूर्णतया समाच्छादित थी। चतुर्दिक पुष्प-वर्षा की होड़ लग रही थी । नानाविध कुसुमों का सुवास युगल दंपति की घ्राणेन्द्रियों में संचित हो उठा । राकाचन्द्र की ज्योत्स्ना उद्दीपन का सर्वत्र वातावरण निर्माण कर रही थी । प्रिया-प्रियतम इस रसमयता से प्रतिभावित हो उठे ।

प्रियतम अपनी प्राणेश्वरी किशोरीरानी को वन-शोभा दिखाते हुए उसे सम्बोधित कर उठे - "प्रिये !" वृन्दावनेश्वर ने अति रसोत्फुल्ल चित्त से अपनी प्राणप्यारी का ध्यान आकृष्ट किया । "प्राणप्रिये ! देखो !! अरुणवर्ण कोमल पल्लवजाल से मण्डित हो रहे हैं, ये वृक्ष समूह । ये अगणित फल-समूहों एवं पुष्प-गुच्छों सहित अवनत होकर तुम्हारी चरणवन्दना कर रहे

हैं। तुम्हारे आगमन से यह सर्वसहा वसुधा भी कितनी उत्फुल्ल है? अपने भवन में आयी तुम्हारा शुभ दर्शन पाकर ये वृक्षगण अपने मस्तक पर सँजोये पूजोपहार फल-पुष्पों को उतार-उतार कर तुम्हारे चरणसरोजों में निवेदन कर रहे हैं । नमित होकर अपनी शाखावली से तुम्हारे संनिकट धरा का स्पर्श करते हुए ये मूक संकेत कर रहे हैं -'आओ ! हमारी प्राणप्यारी आराध्या हमारा उपहार स्वीकार करो ।'

जो हो, प्रियतम की ये प्रेमोक्तियाँ और मानसीगंगा के चतुर्दिक की मनोहर वनशोभा प्रिया किशोरीरानी में एक अनिवर्चनीय हर्ष का संचार कर देती है । उनके अरुणिम अधरों पर मृदु मधुर हास्य उभर आता है ।

"प्यारे ! तुम अपने अरुणिम अधर-पल्लवों पर यह तुम्हारी सर्वविमोहिनी वेणु संस्थापित कर लो और इसके छिद्रों में मधुरातिमधुर स्वर भरो । कोई परम सुरीली प्रीतिभरी तान मुझे सुनाओ ।"

"अहो प्राणरमण ! इस तरणी को तो मैं अपने हाथों संचालित कर लूँगी । मेरे प्राण तुम्हारे इस वेणुवादन के श्रवण में संलग्न होंगे और मेरे नयन-चञ्चरीक तुम्हारे नीलघन-सदृश वदनसरोज के रस का अमृतपान करते रहेंगे ।" और प्राणप्रिया रानी ने अपनी उक्ति समाप्त करते-न-करते नाव की डाँड को अपने हाथों में ले लिया । करस्पर्श मात्र से डाँड स्वाभाविक ही स्पंदित होने लगी और वह परम सुभगा तरणी हिल्लोलित होकर चलायमान हो उठी । सखियों ने तत्क्षण ही नाव की डाँड प्रिया के हाथों से छीन ली और स्वयं संतरण करने लगीं । अहा - प्रियाप्रियतम एवं सखियों को नौका-रमण करते देख उनके दर्शन से आनन्दविवश मयूर नर्तन-रत हो उठे । तटों पर दल की दल हरिणियाँ निर्निमेष नयनों से एकमात्र युगल दंपति को देखने एकत्रित हो गयीं । उधर आम्रशाखाओं पर कोकिल-कण्ठ का पंचमस्वर प्राणों में अतिशय रस भरता प्रिया-प्रियतम का गुणगान करने लगता है ।

वेणु निनाद एवं नृत्य

अहा ! कैसी सुखद नाव है, यह । मुक्ताओं का तो इस पर चन्द्रातप तना है, स्फटिक के खंभे हैं और नीलमणि का सिंहासन है । नाव की भूमि सब स्वर्णिम है । इसमें माणिक्य की पीठिकाएँ हैं जिनमें सखियाँ आसीन हैं। नीलमणि के सिंहासन में पुखराज की पीठ है, पैर रखने की पीठिका हरितमणि

से बनी है । मखमल का अति सुखद आसन है, दोनों ओर के बाजू मयूराकृति के हैं । इस सुन्दर, सुभग सिंहासन पर प्रिया-प्रियतम विराजित हैं । पार्श्व में ही माणिक्य की पीठ पर ललिता रानी वीणा लिये विराजित है । उनके सम्मुख ही विशाखा मृदंग लिये दूसरी ओर माणिक्य पीठ पर विराजित है । मृदंग रखने के लिये सुन्दर तदनुरूप एक रत्नमयी पीठिका है, जिसमें मृदंग सुस्थिर रखी है । पार्श्व में तुंगविद्या तानपूरा लेकर विराजित हैं । ललिता के हाथ में रुद्रवीणा है, मधुमती सरस्वतीवीणा लिये विशाखा के पार्श्व में विराजित हैं । इन्दुलेखा पैरों में घुँघरूं बाँध रही हैं । कुछ सखियाँ अति सुरीली झाँझ लिये हैं । संविन्मय रसावेश चतुर्दिक व्याप्त है । आनन्द लहरियों के आवर्त पर आवर्त उठ रहे हैं ।

नाव के मुक्ता आतप पर, रत्नमय खंभों पर ध्वजा एवं पताकाएँ फहरा रही हैं । चन्द्रातप पर स्थान-स्थान पर रत्नमय झाड़फानूस लटक रहे हैं । प्रिया-प्रियतम के वदनसरोजों पर सखियों की दृष्टि स्थिर है और वे उनके आनन पर उठते किसी लीला संकेत की प्रतीक्षा कर रही हैं । लो ! अपनी प्रिया के मुख सरोज की ओर निहारते नन्दकुलचन्द्रमा ने मुरली में एक अति मधुर तान छेड़ी । बस, एक स्वर ही गूंजा था कि मानसी गंगा के चतुर्दिक तरुजाल में निलीन प्रिया-प्रियतम का एकटक दर्शन करते विविध विहंगम नेत्र निमीलित कर समाधिस्थ हो गये । मधुलुब्ध भ्रमर जो चतुर्दिक प्रसरित दिव्य सुमनों की प्राणोन्मादी सौरभ को त्याग कर प्रिया प्रियतम के चतुर्दिक उनकी अंगगंध के मतवाले हो रहे थे, चन्द्रातप में विजड़ित मणिमय पुष्पालंकारों में शान्त आसीन हो गये । सहस्त्रों मयूर, जो तटों पर आनन्द विह्वल नृत्य कर रहे थे, आनन्द विभोर स्तंभित चित्रांकितवत् रह गये । मानसी गंगा में नाव के चतुर्दिक तैरते मराल-मराली भी नेत्र निमीलित वंशीनिनाद की माधुरी में डूब गये ।

ललिता एवं मधुमती की कोमल कुन्दनद्युति अँगुलियां वीणा के तारों को एक सुमधुर वंशी-स्वर की संगत में झंकृत कर उठीं । विशाखा की कमल-दल सी हथेलियाँ और कोमल किसलय-सी अँगुलियाँ मृदंग पर एक सम की थाप लगा गयीं । इन्दुलेखा के चरण भी घुँघुरुओं की एक झंकार लहरी दे गये । सारिका इस रसमयी मधुरध्वनि में डूब गयी । अपनी-अपनी भाषा में दम्पति की रस-केलि की चर्चा करते शुक-शुकी अपने सभी सजातीय विहंगमों सहित आनन्द विभोर हो उठते हैं ।

स्नेह की बाढ़ से सभी सखियों के नेत्र निमीलित हैं । प्रियतम ने पुनः मुरली में एक बार स्वर दे दिया । ध्वनि प्रसरित होने लगी -- वनस्थली के सब अंशों में । प्रिया के नेत्र मुकुलित हो गये । इस बार मुरली ने ऐसा महादिव्योन्माद प्रकट किया, कि सखियों के लिये भी सह सकना असंभव हो गया । प्रियतम मुरली वादन करें और इसके प्रभाव को कोई सह जाये, यह संभव ही कहाँ है ? चर-अचर, सभी वनवासी विमोहित होने लगे । सबके कर्णपुटों के पथ से हत्तल में एक अनिर्वचनीय सुधा-कल्लोलिनी उमड़ उठी और दृग भर गये, उस मुरलीधर की महामरकत श्यामल छबि से । औरों की तो बात ही क्या स्वयं प्रिया और मुरलीवादनरत प्रियतम भी आनन्दविवश झूमने लगे । चित्रारानी का परम मनोहर नृत्य और सखियों का संगीत-प्रवाह भी रसमय स्वर लहरियों में प्रवाहित हो उठा ।

नृत्य की शास्त्रीय प्रथा यह है कि प्रमुख नर्तक या नर्तकी नृत्य से पूर्व नृत्यस्थल में सुगन्धित वस्तु पहले बिखेरता है । प्रमुख नृत्य-नायक तो थे प्रियतम श्यामसुन्दर ही, अतः उन्होंने अपनी नीलकमल जैसी सुकोमल अञ्जलि में पूरित अतिशय सुरभित लघु-लघु वन्यकुसुमों को नाव पर बने नृत्य मंच पर बिखेर दिया । फिर तत्क्षण ही इन्दुलेखा के नेतृत्व में गोपांगनाओं ने विलक्षण प्रेम-भंगिमाओं और हाव-भाव से नृत्य करना प्रारंभ कर दिया । इन गोपांगनाओं के अंगों से व्यक्त होती कला इतनी उत्कृष्ट थी कि प्रिया-प्रियतम उन्मुक्त कण्ठ से वाह-वाह कर उठे । अब सखियों ने घेरा बना लिया और प्रिया-प्रियतम दोनो 'चालक' एवं 'चारी' नृत्य प्रस्तुत करने लगे।

इन्दुलेखा जी एवं सखियाँ अपने को अत्यंत तुच्छ एवं हेय समझने लगीं -- वे मन ही मन सोचने लगीं नृत्यज्ञ होने का मिथ्या अभिमान ही हम में है, वास्तव में नृत्य तो परिसीमित है -- इन नीलपीतद्युति दम्पति में ही । अहा ! उल्लास में भरकर जब प्रिया राग-रागिनियों के विभिन्न स्वर आलापने लगती हैं, उस समय ठीक अनुभव होता है मानो शैलेन्द्रनन्दिनी के रागसृजन का समस्त कौशल मूर्त्त हो उठा है -- किशोरीरानी के कण्ठ में ही । श्रुतिमनोहर श्रृंगारमयी कल्लोलिनी की कल-कल धारा सर्वत्र बह उठती है ।

यह संगीतोत्सव, नृत्योत्सव कितने काल तक चलता रहा, कौन निर्णय करे ? इस उत्सव के मध्य में तो अनादि, अनन्त कालप्रवाह भी स्तब्ध एवं स्थगित हो संगीत-श्रवण एवं नृत्यदर्शन में मुग्ध हो गया था ।

लो ! नवकैशोर से विभूषित व्रजराजदुलारे में अनुराग की अभिनव नूतन लीला करने की प्रेरणा जाग गई । क्षण-क्षण में नये-नये कौतुक करना तो इनका नित्यसिद्ध स्वभाव ही है ।

श्रान्ति एवं शयन

ज्योंही इस संगीतोत्सव का विराम हुआ, प्राणवल्लभ ने प्रसूनों का आस्तरण आस्तृत करने का संकल्प कर लिया । उनके नयनों ने इस नृत्योत्सव कें मध्य ही यह अनुभव कर लिया था कि नृत्य करतीं प्रिया अतिशय श्रान्त हो उठी हैं। यथार्थत: ही प्रिया की कुंचित वेणी शिथिल हो जाने से केशराशि अस्त-व्यस्त हुई बिखर गयी थी । उनका सम्पूर्ण कुन्दन कलेवर घर्मार्क्त हो चुका था । श्वास-प्रश्वास की गति श्रान्तिवश पर्याप्त तीव्र हो उठी थी- यह तथ्य भी किसी से गोपनीय नहीं था । अब तो समस्त सखियों के भी प्राण तड़फड़ा उठे। सभी सखियाँ यही विचार करने लगीं कि कैसे प्रिया की सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षण में ही हर ली जाये । ललिता के संकेत से नाव तट पर स्थित चन्दन, कुन्द एवं कलिन्द आदि वृक्षों के नीचे रोक दी गयी । क्षणों में ही राशि-राशि वृन्तहीन पुष्पदलों की शय्या कदम्ब वृक्ष के नीचे निर्मित हो गयी । सखियों ने उस उत्तुंग तरुवर के मूल देश में उन पुष्पदलों और सुकोमल नवपल्लवों से अतिशय सुन्दर पुष्पमन्दिर भी निर्माण कर दिया । पुष्पों का ही सुन्दर-सा उपधान (तकिया) भी सखियों ने प्रस्तुत कर दिया । परन्तु नीलसुन्दर को अपनी गोद उस उपधान से अधिक सुखप्रद प्रतीत हो रही थी ।

अहा ! प्रिया प्रियतम की गोद में अपना मस्तक स्थापित कर नेत्र निमीलित किये शयित हैं और प्रियतम उनके मुख पर मन्द-मन्द व्यजन कर रहे हैं ।

इधर सखियों को यह भी अनुभव हुआ कि प्रियतम भी पर्याप्त श्रान्त हो चुके हैं। अत: सभी ने अगणित तरुओं के नीचे भिन्न-भिन्न स्थानों में पुष्प-पल्लव-तल्प निर्मित कर दिये। सबका मनोरथ पूर्ण करने के लिये प्रियतम प्राणवल्लभ नीलसुन्दर अगणित रूपों में अगणित सखियों के साथ अगणित तल्पों में शयन कर रहे हैं । कहीं, ललिता उनके चरण संवाहन कर रही है और कहीं विशाखा की गोद में प्रियतम का मस्तक शोभित है । सबका

मनोरथ एक साथ पूर्ण हो रहो है । सबकी प्रीति का उपहार अनन्त माधुर्यनिकेतन अपने प्रेम-ऐश्वर्य से स्वीकार कर ले रहे हैं। प्रीति के परम देवता नन्दनन्दन अगणित आत्मप्रकाश के द्वारा यह विश्राम की विहार-लीला सम्पादन कर रहे हैं । अवश्य ही किसी भी सखी को किञ्चित् मात्र भी भान नहीं है कि यहाँ कोई आश्चर्यमयी घटना घट रही है । यह भान हो जाय फिर तो आनन्द ही जाता रहे । एक साथ सभी सखियों एवं प्रिया को समान आनन्द दान करने के लिये ही प्रियतम नीलमणि की यह अभिनव लीला प्रकाशित हो रही है ।

"मैंने जिस पुष्प शय्या की रचना की है, उसी पर मेरे प्राणवल्लभ नीलम मेरे एकान्त संगी हुए शयन कर रहे हैं"-यही सबकी एकमेव प्रतीति है । परन्तु, सत्य तो यह है कि एक प्राणवल्लभ नीलमणि एक ही समय में अगणित वृक्षमूलों के नीचे सखियों द्वारा आस्तृत पुष्पशय्याओं में उनके संग शयन विहार कर रहे हैं ।

लो, अब अपरिच्छिन्नस्वरूप प्रियतम की चरण-सेवा प्रारंभ हुई । सारिका के सम्मुख प्रियतम की यह ऐश्वर्य प्रेमलीला स्पष्टतया व्यक्त हो रही है । धन्य है माहभाग सारिके !

कभी पुष्पमन्दिर में सर्वथा एकान्त में प्रियतम अतिशय लाड़ से अपनी प्रिया के चरण-सरोजों को अपने क्रोड़ में धारण कर लेते हैं, तब, अपनी सुकोमलतम अँगुलियों से स्पर्श करके मन्द-मन्द, अत्यंत सुखद भाव से उन चरणों को दबाकर अपनी प्रिया को सुख-प्रदान करतें हैं, फिर अपनी प्रिया के मुख पर श्रम-सीकर, स्वेद-कण देखकर विकल हो जाते हैं और नवपल्लव एवं पुष्परचित आर्द्र व्यजन लेकर उनके कनक-सरोरुह से विकसित मुख पर तथा कुन्दनद्युति श्रीअंगों पर शीतल मन्द सुगन्ध बयार करने की सेवा करने लग जाते हैं।

इसी प्रकार, उन्नत शाखा अगणित कदम्ब वृक्षों के नीचे स्वनिर्मित पुष्प-तल्पों पर कहीं कोई सखी एवं कहीं कोई सखी अपने प्रियतम के स्कंधों को, भुजाओं को, करपल्लवों को मधुर रुचिकर सम्मर्दन के भाव से आलिंगन किये उनकी सम्पूर्ण श्रान्ति एक क्षण में ही मिटा देने की चेष्टा में संलग्न है ।

सारिका के नेत्रों में यह सत्य भी पूर्णतया स्पष्ट हो रहा है कि इन प्रिया-प्रियतम दोनों के ही सच्चिदानन्दमय शरीरों में श्रान्ति, व्यथा, आमय के लिये तनिक भी कहीं त्रिकाल में भी अवकाश नहीं । प्रकृति एवं काल से परे की वस्तु हैं -- इन दोनों की रूपांग सुन्दर, परम सुकोमल देहें, साथ ही सभी सखियों की, पशु-पक्षियों एवं वहाँ इस राज्य के चर-अचर सभी प्राणियों की सत्ताएँ भी। परन्तु यह ज्ञान इन परम अमल, हतपाप्मा लोगों की समझ से परे की वस्तु है। इस सत्य को इस व्रजराज्य में एक तृण भी धारण नहीं कर सकता । एक तृणचारी पशु भी यह ज्ञान अपने आर्श्व-पार्श्व में भी फटकने नहीं देगा। वैसे इनके समान निर्मल तो साक्षात् वेदनिधि का मन भी नहीं है । अनादि काल से इनके मानस-तल में स्वसुख वासना का कलुष - (पापबीज) अंकुरित होता ही नहीं, फिर भी इतने नित्य अमल होने पर भी अपने एवं अपने प्राणवल्लभ के देहतत्व के ज्ञान को ये सभी ग्रहण कर ही नहीं सकते। स्वयं प्राणवल्लभ भी इस तत्वज्ञान को धारण कर सकें ऐसी, इस अवधि में तो उनकी स्थिति सर्वथा नहीं है। सारिका स्पष्ट अनुभव कर रही है कि इस समय यदि सर्वज्ञाननिधान प्राणवल्लभ नीलमणि में वैसी सच्चिदानन्दमयता की स्फूर्ति हो जाय तो -"मेरी प्रिया के अपार अनन्त सुख का मैं किसी भी प्रकार हेतु बन जाऊँ" -इस रस-निर्यास का द्वार ही रुद्ध हो जाय। इस सम्पूर्ण व्रजप्रदेश में प्राणतन्तुओं के साथ जो यह अमिट भावना जन-जन में है, पत्र-पत्र, कीट-पतंग, पशु-पक्षी -- यहाँ तक कि तृण गुल्मादि में भी पूर्णतया लबालब भरी है कि मेरा अस्तित्व इन युगल दम्पति के सुखार्थ ही है - इस रस का उद्‌गम ही फिर तो सर्वथा सूख जायगा। तब तो सबके मनोरथ ही अपूर्ण रह जायेंगे। साथ ही लीलाविहारी वृन्दावनेश्वर और वृन्दावनेश्वरी का प्रणयरस-निर्झर ही सूख जायगा, जो अनादि काल से अवस्थित हैं और अनन्त काल तक अवस्थित रहेंगे अपने इस स्वरूपभूत नित्य लीला-रस-सुधा को, महाभाव-लीलामृत को नित्य अतृप्त भाव से पीते रहने के लिये।

अहा ! असंख्य सखियाँ अपने क्रोड़ में प्रियतम को सुलाये उनकी सेवा कर रही हैं, फिर भी वन में कैसा शान्त वातावरण है। वन-विहंगमों ने भी जैसे नीरव रहने का व्रत ले लिया है। क्योंकि अपने प्रियतम की क्रोड़ में

निमीलित-नेत्र प्रिया शान्त शयित हैं। एक वन का झींगुर भी इस समय पूर्णतया सजग है। कहीं तनिक-सा बोलते ही उसकी प्राणसारसर्वस्वा रानी सो नहीं पायी तो ? उनके विश्राम में कहीं कोई व्यवधान हो गया तो ? यह प्रेम-जनित भय सबके मन में भरा है। अद्‌भुत नीरवता के बीच सभी सेवायें सम्पन्न हो रही हैं। किसी सखी के हिलने-डुलने से कहीं कोई आभूषण की खनक भी नहीं हो, शुष्क पत्रों की मर्मर ध्वनि भी नहीं हो पाये -- सब सखियों और प्रियतम के द्वारा इतनी सावधानी बरती जा रही है।

रानी के स्वप्नदेश में सारिका

लो, प्रिया सचमुच ही चाहे क्षण भर ही सही निद्राभाव को ग्रहण कर लेती हैं। उनकी श्वास-प्रश्वास स्पष्ट निर्देश दे रही है कि प्रिया निद्रित हो रही हैं। और लो, महाभाग्यवती सारिका, उनके निद्रादेश में भी पदार्पण कर गयी। सारिका देखने लगी -"प्रिया निद्रा लेती-लेती स्वप्न देख रही हैं। स्वप्न में प्रिया-प्रियतम इसी प्रकार नाव में विराजित हैं और प्रियतम वंशीवादन कर रहे हैं। वंशी में प्रियतम लोकोत्तर स्वर रचना कर रहे हैं। यह वन के सम्पूर्ण जीव-समुदाय को भली प्रकार ज्ञात है कि जब भी प्राणवल्लभ अपने अधरों पर वंशी रखें, उस समय कोई भी काकली, कोई भी रव-सर्वथा किसी के भी द्वारा न हो। क्योंकि तनिक भी ध्यान इधर-उधर हो जाने पर इस वंशी-श्रवण के सुख से वे वंचित हो जायेंगे। अतः, सब वातावरण स्तब्ध हो रहा है। प्रियतम तो प्रियतम ही हैं। इनके सर्वांग जैसे चंचल हैं, वैसे ही इनका मन भी तो परम चंचल है। एक भाव में बहुत समय तक ये स्थिर रह पावें, यह इनके लिये कहाँ संभव है ? सो, भाव परिवर्तन हो ही गया। श्रृंगारमयी वंशीध्वनि की श्रुतिमनोहर रसधारा रौद्ररस के प्रवाह में विलय हो गयी। मानो वसन्त की मन्द बयार बहते-बहते ही पावस की घन-गर्जना होने लगी हो। प्रियतम ने वंशीनिनाद स्थगित कर, तरणी की डाँडें अपने करकमलों में ग्रहण कर लीं। वे डाँड खेने भी लगे और अपनी प्रिया की नवनवायमान होती मनोहर रूपछटा भी निहारने लगे ।

और अरे, प्रियतम नीलसुन्दर ने तो विनोद-विनोद में ही तरणी संचालन इतना वेग-पूर्वक कर दिया कि प्रिया भयभीत हो उठीं। तरणी की गति तो और भी वेग ग्रहण कर लेती - परन्तु प्रिया निषेध की मुद्रा में प्रियतम के

नौकाचालन करते हाथों को अपने सुकोमलतम हाथों में ग्रहण कर, निषेध कर उठीं। वे अब तक तो प्रियतम से लज्जावश किंचित् दूरी रखे थीं, और अपने सुदीर्घ आकर्णविलम्बी नेत्रों की कोर से प्रियतम की रूप-सुधा का पान कर रहीं थीं, किन्तु अब तो वे उनके क्रोड़में उनसे सर्वथा ही सटकर आसीन हो गयीं। अरे, अरे ! डाँड खेने की चतुराई से प्रियतम ने नाव को डगमगा दिया। प्राणप्रिया में अपनी सुरक्षा का भाव तो नहीं आया, प्रियतम की सुरक्षा का ऐसा भाव उठा कि वे स्वप्न में चीख उठीं। उनकी स्वप्न की इस भय-मुद्रा और चीखने की क्रिया ने उनका स्वप्न तोड़ दिया।

देखो, देखो ! जागकर प्रिया यथार्थतः ही अपने प्रियतम को असुरक्षित समझ प्रगाढ़ आलिंगन में भर लेती हैं। वे भावमयी, सर्वथा लज्जाशून्या हुईं प्रियतम को इस प्रकार अपने बाहुओं और अंग-अंग में प्रगाढ़ रूप से भर लेती हैं, मानो उन्हें आत्मसात् ही करने जा रही हों। सविन्मय विलास की इस ऊर्मि ने कोटि-कोटि कंदर्पो के नायक को विलय बिन्दु की ओर अग्रसर कर दिया। सचमुच ही अतनु प्राणहीन ही हो जाता। हाय, हाय ! न जाने किस अहैतुकी कृपावश तो उसे मात्र क्षणार्द्ध के लिये इस महारस प्रदेश में प्रवेश प्राप्त हुआ था और इस विलयजन्य वज्रपात ने तो उसे इस परम दुर्लभ रस-दर्शन से भी विलग कर दिया, मूर्च्छित कर दिया।

अहा ! अपने सकल अंगों को भयवृत्ति में डुबाती प्रिया कितनी मनोहारिणी लग रही है । उनके कंचुकीबंध अपने आप ही मुक्त हो गये हैं, और नीवी बंधन शिथिल । परम निस्संकोच, वे प्रियतम को अपने अंगों में भर रही हैं। प्रियतम तो सदा से ही इस भावोच्छलन का स्वागत करने नित्य उत्सुक, सन्नद्ध एवं तत्पर रहते ही हैं। युगल दंपति प्रणय-रस-सिन्धु की लहरियों में डूबने उतराने लगे। सारिका इस रसमयी छवि को निहारती सर्व सौभाग्य में निमग्न हो रही है। तटवर्ती सभी नर-पशु-पक्षी जो भी इस शोभामयी रस-राशि का दर्शन कर रहे हैं सब में नारीत्व के चिन्ह एवं नारी-भाव स्वतः ही प्रकट हो जाता है। अरे ! अरे!! अपनी प्रिया के नवपल्लवों सदृश अधरों का चित्पीयूष प्रियतम पान करने लगे। अब तो वे अपनी प्रिया को निर्बाध भुजपाश में आलिंगित कर रहे हैं। विलास-रस-सिन्धु के अतल तल में समाये हुए उन्हीं भावों से प्रतिभावित हुए दोनों युगल दंपति तदनुरूप महारस समुद्र में डूबने-उतराने लगे। इस अलौकिक शोभा का आस्वादन कोई सारिका-जैसा बड़भागी जीव ही कर सकता है।

धन्य ! धन्य ! परम धन्य ! परमाति परम धन्य ! सारिका रूपधारी पूज्य गुरुदेव और पूज्य गुरुदेव के गुरुदेव श्रीपोद्दार महाराज - जो इस कपटरहित कृष्ण प्रेम का निरन्तर अवगाहन करते रहते थे । इस परम सुदुर्लभ भाव का परोक्ष दर्शन ही प्रथम तो इस जगत् में किसी को नहीं होता, फिर अपरोक्ष आविर्भाव होने का तो प्रश्न ही नहीं। किसी महासौभाग्यवान प्राणी को अपरोक्ष दर्शन हो पावे तो उसके प्राण प्राकृत शरीर में रह नहीं सकते । जो यावज्जीवन इसे अनुभव करते हुए देह धारण किये रहे वे महा-महा प्रेमावतार परम भागवत तो अनन्तशः वंदन ही वंदन के पात्र हैं।

सारिका प्रसंग : पांचवी लीला
गह्वरवन वर्णन

सारिका उड़ती हुई पहुँच गयी है यमुना के उस पार। कैसा विलक्षण है यह व्रजप्रदेश। इस देव-दुर्लभ सुरम्य प्रदेश में तीस अतिशय मनोहर रमणीय वन हैं - एक से एक अभिनव सुन्दर और परम रसमय। इन वनों की राजि में प्रिया-प्रियतम नीलमणि और किशोरीरानी की स्वरूपानन्दमयी चिन्मयी रस-स्रोतस्विनी निरन्तर अक्षुण्ण प्रवाहित होती रहती है। अहा ! कैसा विलक्षण देश है, जिसके रस के एक कण से सिक्त होने के लिये योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण निरन्तर लालायित होते रहते हैं - वहाँ इन तीसों वनों में नित्य निकुंजेश्वर एवं निकुंजेश्वरी के असंख्य विहार-निकुंज है, जो सबके सब यत्परोनास्ति सुभग हैं।

तो, सारिका के नेत्रों के सम्मुख गह्वरवन का विलक्षण रसप्रदेश आविर्भूत हो रहा है। चतुर्दिक अगणित हरित् लताएँ द्रुमों से लिपटी हैं। कुसुमों से भरे लताजालों में असंख्य विहंगम क्रीड़ारत हैं। एक ओर गुच्छ के गुच्छ पुष्पों का भार है इन पर, और दूसरी ओर विहंगमों के दल झूल रहे हैं, इनकी टहनियों पर। इस प्रकार ये वल्लरियाँ अत्यन्त नमित हो गयी हैं। ये अति नमित हुई मानो धरादेवी को नमन कर रही हों, इस प्रकार भूमि पर प्रसरित हैं।

वृक्षों की शाखायें फलों से लदी हैं। फलों का भार भी इतना अधिक है कि पादपों को झुककर पृथ्वी पर नमित हो कर फैलना पड़ रहा है। धरा का

वक्षस्थल तो पहले ही गुच्छ के गुच्छ पुष्पों से लदी लताओं से आच्छादित था ही, अब इन पादप-शाखाओं के नमित होकर प्रसरित हो जाने पर तो, भूमि सर्वथा आच्छादित ही हो गयी है। भिन्न-भिन्न पुष्पों की विलक्षण महक इतनी व्यापक और घनी है कि वन ही नहीं गिरिवर की गुफायें तक सौरभ से भर गयी हैं। भ्रमरावली मधुपान से छक कर मत्त हुई मौन हो गयी है, किन्तु विहंगमों को काकली से विराम कहां ? वे अपने सुमधुर, सरस स्वर से वन को सर्व ओर से निनादित कर रहे हैं।

सारिका के प्राण उत्कंठित हैं प्रिया-प्रियतम को ढूँढ़ने में। उसे कोकिला ने यही सूचना दी थी कि प्रिया को प्रियतम वनदर्शन कराने गह्वर वन की ओर लाये हैं। सारिका ने पीत-झिण्टी पुष्पों की झुरमुट में झंकार करते आनन्द कोलाहल में मत्त भ्रमरों से पूछा कि उन्होंने कहीं किसी दिशा में प्रिया प्रियतम की अंग-गंध प्राप्त की है ? भ्रमरों ने इतना ही संकेत किया कि यमुना तट से प्रस्फुटित पद्मों से मिली वह गंध अवश्य आती प्रतीत हो रही है। यह कह कर वे उड़ चलते हैं। अब सारिका इतने विस्तृत यमुना-तट पर कहाँ-कहाँ अपने पंखों को गति दे। अपलक नेत्रों से जड़-पुत्तलिका की तरह वह प्रिया की हेतुरहित कृपा का अवलंबन लेकर, वहीं एक ओर दृष्टि निहित कर देखती रह जाती है। सारिका के सम्मुख एक सुन्दर सरोवर है । सारिका देख रही है - एक हंस हंसिनी के चरण प्रान्त में अपना सिर झुकाये आसीन है। उसके मन में अथाह प्रीति की ऊर्मियाँ हिल्लोलित हो रही हैं। भाव की उमड़ती तरंगों से उसके रोम-रोम उत्फुल्ल एवं रोमाञ्चित हो रहे हैं। वे उसके पंखों के ऊपर, नीचे, दाहिने एवं बाँये बिखर-सी रही हैं।

जलधारा से सम्बद्ध मेदिनी पर चतुष्पादों का निर्भय होकर विचरना बहुत ही सुहावना प्रतीत हो रहा है। वे चतुष्पाद कुछ चलकर रुक जाते हैं। सुख-सिन्धु के प्रवाह में डूबकर अपने नयन मूँद लेते हैं, फिर निष्पंद हो जाते हैं; - फिर उन्मत्त हुए-से आगे की ओर चल पड़ते हैं। इन सभी के हृदयों में व्यक्त होनेवाले प्रीतिभावों के दृश्यों से किसी भी भाग्यवान् का तादात्म्य हो, तब न उनकी इन सब क्रियाओं का रहस्य उसे समझ में आवे । सारिका इतनी भाग्यवान् है कि वह सबके हृदयों में उफनते किसी भी प्रीति दृश्य की साक्षी हो जाती है; अत: वह ठीक जान रही है कि इनको अपने सम्मुख अपरिसीम शोभा का प्रवाह उच्छलित करते प्रिया-प्रियतम दीख जाते हैं तभी ये सुखसिन्धु में डूबकर नयन मूँद लेते हैं, निष्पन्द हो जाते हैं। ये उस परम

मोहक छबि को अपने हृदय में, रोम-रोम में भरने लगते हैं। फिर बाह्यवृत्ति के उदय होने पर ये अपने नयन पुनः विकसित करते हैं ; पुनः प्रिया-प्रियतम को किसी कदम्ब वृक्ष के नीचे दूर खड़े पाते हैं तो उन्मत्त हुए-से उनकी ओर दौड़ पड़ते हैं। यही इनकी चेष्टा का रहस्य है।

सारिका शान्त चुपचाप बैठ गयी। किसी तपोनिष्ट ब्रह्मज्ञानी सन्यासी का मन ही तो इसका मन है - प० पू० गुरुदेव की भाव देह जो ठहरी। तब यह अन्य पक्षियों की तरह कलह-कलख में निरत और चंचल कैसे होगी ? सत्वमयी शान्ति तो इसके चित्त का भूषण होगी ही; इसमें कुछ तो असाधारणता दिखाई पड़ेगी ही।

व्रज जगत का तत्व रहस्य

अहा, इस विशाल कदम्ब वृक्ष पर आसीन इस सारिका की शोभा कैसी सुन्दर है, इसकी सुन्दरता भी परम सात्विक है मानो कोई तपोमूर्ति बैठी हो। सारिका की अपनी सहज अनुभूति है। वह देखती है कि यहाँ इस व्रज जगत् की सृष्टि विश्वस्रष्टा द्वारा कल्पित नहीं है। यहाँ तो अनन्त विश्व सृष्टि के नियामक प्रियतम श्रीकृष्णचन्द्र ही सूर्य, चन्द्र, गगन, पवन, ग्रह, नक्षत्र, अशेष तारक पंक्ति बने हैं। वे ही इस व्रजजगत् के निमित्त भी हैं और उपादान भी हैं। लौकिक सृष्टि तो चिदाभासजन्य मिथ्या प्रतीति है, परन्तु यह सृष्टि चिदानन्दमयी संघिनी शक्ति की परिणति है, अतः सत्य है। यहाँ जिस सच्चिन्मयी नीलिमा से नन्दनन्दन का आत्मप्रकाशरूप देह है, ठीक वैसा ही उनका ही आत्मप्रकाशमय रूप व्रज में यमुना, धरा, गिरिश्रेणी, वृक्ष, गुल्म, लतायें, एवं चर-अचर, अनन्त जीव समुदाय है। सारिका यह भी ठीक जान रही है इस व्रज में प्रिया-प्रियतम के आत्मप्रकाश की रूप-रेखा को रंचकमात्र भी वह किसी को हृदयंगम करा सके यह असंभव है। क्योंकि यहां प्रापंचिक सृष्टि जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, जो नियमों की परिधि में समा सके। यह तो प्रिया-प्रियतम के अपने आप द्वारा सम्पादित एक विलक्षण स्वतंत्र विश्व है। यह आनन्दात्मक है, चिदात्मक है। इसकी समस्त परिणति सर्वथा विशुद्ध है। इसके कारण मात्र प्रिया-प्रियतम हैं और यह उनसे सर्वथा अभिन्न है। तथापि यह लीला की संघटना के उद्देश्य से है, इसलिये उन लीला परिकारों के स्वभाव का इसमें उन्मेष हो गया है । इसी कारण यह विभिन्न रूपों में

प्रतिभासित हो रही है। वाणी इसकी रूप-रेखा का निर्देश कर ही नहीं सकती, यह अनिर्वचनीय है। बस, यह अद्‌भुत है। यदि इसे सृष्टि कहें तो यह सृजन का उत्कृष्टतम रूप है, सबसे विलक्षण है।

अत: सारिका देख रही है सम्पूर्ण दृश्यप्रपंच सर्वथा, सर्वांश में प्रिया-प्रियतमंमय है। वह स्वयं में भी प्रिया-प्रियतम को पूर्ण लबालब भरा देखती हुई ध्यानस्थ बैठी है। वह अपने आपको सर्वथा विस्मृत कर अपने परम प्रेष्ठ प्रिया-प्रियतम के ध्यान में आपातत: डूब गयी है। अन्य-स्मृति-शून्य हो रही है उसकी दशा ।

लो ! रानी अपने प्राणवल्लभ नीलमणि सहित वन विहार करती चली आयीं, उसी स्थल पर जहाँ सारिका कदम्ब की डाली पर आसीन ध्यानस्थ है। सखियों सहित प्रिया-प्रियतम सारिका की बाह्य-ज्ञान-शून्य दशा को देखकर अति आनन्दित हो उठते हैं। जो प्रीति समाधि के लक्षण बड़े-बड़े ऋषियों मुनियों में प्रकट नहीं होते, वे प्रेमभावसमाधि के लक्षण इस पक्षी में सहज प्रकट देखकर सभी उस पक्षी की भावदशा की सराहना करते हैं।

प्रियतम न जाने क्या चमत्कार करते हैं कि सारिका के हृदय में व्यक्त प्रिया-प्रियतम की रूप छबि अकस्मात् अन्तर्द्धान हो जाती हैं। सारिका अतिशय विकल हुई अपने नेत्र खोल देती है। प्रिया-प्रियतम को सखियों सहित साक्षात् अपने सम्मुख पाकर उसके नेत्र प्रेम से छल-छला उठते हैं; उसे तीव्र रोमाञ्च हो आता है।

प्रियतम एवं रानी के स्नेह की जय

रानी अतिशय प्यार से सारिका को अपने कोमलतम कर सरोजों में उठा लेती है। वे उसके पंखों पर अपने सुकोमलतम हाथों को फेर-फेर कर उसे अपने उमड़ते स्नेह सिन्धु की ऊर्मियों से नहला देती हैं। उसे अपने वक्षस्थल से लगाती हैं और अपने कपोलों से सटा लेती हैं। उसके रोम-रोम को अपने सुकोमलतम पद्म-पल्लवों-सदृश अधरों से प्रीतिदान करती हैं। और तब अपने प्राणपति नीलसुन्दर को सौंप देती हैं। प्रियतम भी अतिशय प्यार से उसके पंखों को हाथों से सहलाते हैं और पूछते है -"सारिके ! भूख लगी है, कुछ खाओगी ? और तब अपने एवं किशोरी रानी के अधरामृत से सिक्त सुमधुर फल उसकी चौंच में भर देते हैं ? सारिका के रोम-रोम में प्रेमामृत संचारित

हो उठता है। भाव की तरंगों में वह बह चलती है । वह कभी अतिशय प्यार से प्रियतम की ओर देखती है और कभी प्रिया की ओर, एवं तब दिये हुए कौर को किसी प्रकार निगल पाती है। अब प्रिया-प्रियतम दोनो अपने अपने मुखों का चर्वित ताम्बूल इसकी चौंच में देते हैं। फिर दोनों ही प्यार से मुसका पड़ते हैं। सारी भावाविष्ट हो जाती है। वह अपनी प्राणप्यारी रानी और परमप्रेष्ठ प्रियतम को सम्बोधित कर बोलने लगती है :-

"प्राणवल्लभ ! रजोगुणी पक्षी-जाति में जन्मी, महामलिनता की पुञ्ज सर्वथा तुच्छ, नगण्या हूँ मैं। मुझ सर्वदोषनिधान की भी अवहेलना न कर आप जो निराविल प्यार मुझे दे रहे हैं, हे, करुणावरुणालय ! आपकी असमोर्ध्व, हेतुरहित कृपा की निरवधि जय, जय, सदा ही जय हो । मैं महामलिन तुच्छातितुच्छा, आपकी दासियों की दासियों की अनुदासीतुल्य भी नहीं हूँ। हे, नील सुन्दर ! आप मुझे दुलारते हैं, संरक्षण देते हैं, आपकी महानुभावता की बलिहारी है। मेरा यह शिरोभाग आपके चरणों की धूलि से सदा ही धूसरित रहे, और आपकी कृपा निरन्तर मुझ पर बनी रहे।"

प्रिया-प्रियतम की प्यारभरी छबि हृदय में सँजोये सारिका--"मेरी प्राणवल्लभा की जय ! मेरे प्राणसारसर्वस्व की जय" इस प्रकार जय-जयकार करती, नाचती बेसुध हो जाती है। प्रिया-प्रियतम कदम्बवृक्ष की एक डाली पर उसे आसीन कर देते हैं और सखियों के साथ निकुंज में प्रवेश कर जाते हैं।

लो, सारिका फिर उड़ चली नील गगन में। अति विस्तृत नीलगगन में वह उड़ती जा रही हैं। सारिका के मन में, अन्तःकरण में पूरम्पूर भरे हैं-महामरकत-श्यामल, सुकुमार-अंग प्रियतम और पिंगलवर्णी स्वर्णलता-सी सुन्दरी प्राणेश्वरी किशोरीरानी। इनकी विशुद्ध सत्वमयी शक्ति से ही सदा संचारित होते रहते हैं -- उसके प्राण और इन्द्रियाँ । सारिका का कथन मात्र का 'स्व' और 'स्व' से सम्बद्ध उसका सर्वस्व, इन युगल दंपति के चरणों में आत्यंतिक उल्लास के साथ समर्पित है। प्रिया-प्रियतम की अखण्ड स्मृति और उसका निरवधि चिन्तन ही तो अब उसका जीवन है। उनकी नित्य सन्निधि का अनुभव करते रहना ही उसका ज्ञान, ध्यान एवं परमार्थ है। उसे यही अनुभव होता रहता है कि वे ही उसकी आँखों से देखते हैं, वे ही वाणी से बोलते हैं, और वे ही उसकी श्रवणेन्द्रियों से सुनते हैं। उसे यही स्पष्ट अनुभूति है कि सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच के व्यवहार में ये युगल ही सर्वत्र क्रियाशील हैं।

गोपराज के ग्राम में

लो, दूर-दूर उड़ती, चली आयी सारिका नन्दग्राम से कुछ दूर स्थित एक ग्राम में। एक छोटा-सा परम शान्त, सौम्य, सुन्दर ग्राम है यह। यमुना इसके पास से ही बहती है । चतुर्दिक् सुन्दर वन से घिरा है, यह। असंख्य पक्षियों के कलरव से निनादित रहता है। सारिका ग्राम की चतुर्दिक् परिक्रमा करती है एवं एक धर्मनिष्ठ, सम्पन्न गोप के घर में प्रवेश कर जाती है।

बहुत ही कट्टर मर्यादावादी ये गोपराज हैं। सम्पूर्ण घर के गृहजनों पर इनका कड़ा अनुशासन है। इस घर की कुलवधुएँ कहीं बाहर आ-जा नहीं सकतीं। किसी से वार्त्ता करना भी पूर्णतया निषिद्ध है, इनके घर में। ऐसे गृह की कुलवधू है, यह गोपी। इसका पीहर भी ऐसा ही कट्टर मर्यादावादी है। गुरुजनों का निरे बालकपन से ही घना कट्टर शासन रहा है, इस पर। स्वभावत: चंचला होने से इसकी दृष्टि उठती तो है परन्तु तत्क्षण ही घूँघट की ओट में चली जाती है, लज्जावश।

गोपी हृदय में प्रेमदीप

हाँ, इसके गृह के पीछे यमुना के घाट पर से थोड़ी ही दूर हटकर इसकी एक पर्णशाला है। पर्णशाला के चतुर्दिक् अति मनोरम एक उद्यान है। यह पर्णशाला ही इसका एकान्त विश्रामस्थल है। गृहकार्य सम्पन्न कर वह यहीं विश्राम करती है; इसका रूप सचमुच ही हृदयग्राही मनोमोहक है । नन्दरानी के निमंत्रण पर एक दिवस यह किसी उत्सव में नन्दभवन गयी थी। वहीं उसने नन्दनन्दन को भी देखा था। बस, प्रथम दृष्टि में देखते ही इसके हृदय में उनकी प्रीति का दीपक तो जल ही उठा था। या यों कहें, अनादिकाल से दीपक, बाती और तेल वह सँजोये हुए थी और इस प्रथम दृष्ट्या रूपदर्शन ने एक चिनगारी का कार्य किया और दीपक झक्-झक् जल उठा। परन्तु अभी तक इसके हृदयमन्दिर के सभी छिद्र बन्द रहने से समीर का तेज झौंका वहाँ नहीं प्रवेश कर पाया था। सर्वथा निर्वात हृदयस्थल में विराजित रहकर दीपक की लौ रञ्चमात्र हिली भी नहीं थी। फिर उसके ज्वाला बनकर सर्वदाही हो जाने की संभावना कैसे हो पाती ?

मध्याह्न में जब सब गृह कार्य निवृत्त हो जाता है, तो यह गोपी इस पर्णशाला में आकर बैठ जाती है। ये इसके एकान्त क्षण परम प्यार के होते हैं। इस समय इसके चित्त से जगत का चित्र-विचित्र-रंगभरा दुकूल (परदा) सर्वथा हट जाता है। एक अद्भुत, सच्चिन्मयी, नीलद्युतियुक्त आलोकमाला-सी चतुर्दिक फैल जाती है। इसकी पर्णशाला इस नील ज्योत्स्ना से उद्भासित हो उठती है। इस नीलद्युति के दर्शन से रविकिरणों का स्पर्श पाकर विकसित हुए कमलों की भाँति इस गोपी का रोम-रोम हर्ष से खिल उठता है। हृदय में आनन्द की सरिता बह चलती है। यह निर्निमेष नयनों से उस सच्चिन्मयी नीलद्युति में प्रकट होते अरविन्द-सदृश मुख की ओर टकटकी लगाकर देखने लग जाती है। फिर यह नीलद्युति आकृति शनै शनैः और स्पष्ट होने लगती है। गोपी देखने लगती है -- सुन्दर मयूर-पिच्छ से मस्तक की कुञ्चित अलकावलि परिभूषित है। उन्नत चमकते ललाट पर मृगमद-मिश्रित चन्दन की खौर सुशोभित है। गले में वन्य-प्रसून-गुम्फित तुलसीमाला झूल रही है। सम्पूर्ण सुषमा का आकर, विशाल वक्षस्थल श्रेष्ठ कौस्तुभमणि से विभूषित है। अहा ! कैसे सुन्दर कमलदल के समान अधर-पल्लव हैं और उन पर मन्द मुसकान की छटा नित्य व्यक्त रहती है। गोपी के नेत्रों में, कानों में, प्राणों में, मन में, उसकी बुद्धि में, उसकी आत्मा में, वह किशोर मूर्त्ति भर जाती है। उसे उस समय यही अनुभव होता है कि उसका जो कुछ वर्तमान, भूत एवं भविष्य है, सब का सब यह श्यामवर्ण किशोर ही है। यह गोपी इसी छबि के ध्यान में तबतक डूबी रहती है जबतक इसे इसकी सास का किसी गृहकार्य के लिये पुनः बुलावा नहीं आ जाता। परन्तु, यंत्रचालित-से ही इसके हाथ गृह-कार्य में लगे रहते हैं, इसका चित्त तो इसी श्याम ज्योत्स्नापुरुष में ही खोया रहता है।

कभी-कभी इसकी अनेक ग्राम्य सखियाँ आ जाती हैं। परन्तु उस समय इन गोपांगनाओं से भी इसकी वार्त्ता इस श्यामल नीलचन्द्र को लेकर ही होती है। ये सभी स्वर्ण कलशी लेकर यमुना तट से जल लेने चल पड़ती हैं । ये हँस हँस कर परस्पर वार्त्ता तो करती ही हैं, परन्तु सचकित, शंकित नेत्रों से इधर उधर देखती भी जाती हैं। अहा ! इन सबका उस समय कैसा नयनाभिराम रूप-सौन्दर्य छलक उठता है । उनके स्थूल कटिदेश में सुकोमल क्षौम (रेशमी) तंतुओं से निर्मित लहँगा सुशोभित है । प्रियतम नीलमणि की मधुरातिमधुर स्मृति से प्रणय-स्नेह-सिन्धु के उद्वेलित हो उठने से इनके स्तन

अतिशय उत्तुंग हो उठे हैं। साथ ही रह रहकर चित्त के उद्वेलित हो उठने से ये प्रकम्पित भी हो रहे हैं। हाथों को अलंकृत करने वाले कंकण, कानों को विभूषित करने वाले कुण्डल-युग्म भी अतिशय चञ्चल हो रहे हैं। प्रेमावेश के कारण प्रस्वेद-कण भाल पर, कपोलों पर, चिबुक पर झलमल कर रहे हैं। अंगों में निरन्तर गति रहने से अञ्चल सिर से उतर आया है। वेणीबन्धन भी शिथिल हो गया है। वेणी में ग्रथित मालती पुष्प झरने लगे हैं। झर-झरकर वे चरणों का संस्पर्श कर रहे हैं। मानो कबरी के ये पुष्प इन गोपियों के चरणों में गिरकर इन्हें एक सत्य सिद्धान्त का संकेत कर रहे हों - "अरी ! तुम्हारे परिवारजन, अभी जो तुम्हारे मस्तक पर आसीन हैं, वे तुम्हारे प्रियतम श्रीकृष्ण में तन्मय होते ही तुम्हारे चरणों में आश्रय लेने लगेंगे, तुम चिन्ता मत करो। प्रेमावेश के कारण इन सबका बाह्यज्ञान यद्यपि लुप्तप्राय: ही है, तथापि अन्तश्चेतना में यंमुना तट जाने, जल भर कर लाने की वासना के चिर जाग्रत रहने से चरणों की गति तथा कलशी-ग्रहण में कोई व्यतिक्रम नहीं है। क्षण-क्षण इन्हें आभास हो उठता है कि इस वृक्ष के नीचे नन्दनन्दन खड़े हैं। इस झुरमुट में से लो वे निकल आये -- अत: दृष्टि के सशंक सञ्चालन से इनके भ्रू-युगल अतिशय बंकिम बन गये हैं। ये नयन बहुत ही सुन्दर दीख रहे हैं। इस प्रकार गोपियाँ प्रणय-महोदधि में डूबती-उतराती चञ्चल सौन्दर्य की प्रतिमा-सी बनी यमुना तट की ओर अग्रसर हो रही हैं।

परस्पर रस चर्चा

लो, अपने सिर पर स्वर्ण कलशी रखे यह गोपी अपनी सखियों से क्या कह रही है ? जरा सुनो तो - "अरी बहनों ! मुझ पर तो मेरे गुरुजनों का अनुशासन इतना कड़ा है कि मैं तो नीलरमण की एक झाँकी भी नहीं पा सकती। बस, मात्र एक दिवस यमुना घाट पर कार्तिक अमादस्या के दिन अपनी सास के संग दीपदान करने गयी थी। अहा ! हजारों गोप गोपियाँ यमुना में दीपदान कर रहे थे। उस उत्सव में व्रजराज एवं व्रजरानी भी दीपदान करने अपने पुत्रसहित आये थे । अहा ! बस, उसी दिन एक झाँकी हुई थी नन्दतनय की।"

"अहा नवकमल जैसी विशाल नेत्रों की शोभा थी । बिम्बफलके सदृश लाल-लाल परम सुकोमल किसलयदल से अधर थे। उन पर मन्द मुसकान

छायी हुई थी। सजल जलद की-सी अंगों की कान्ति थी। अत्यन्त सुन्दर किशोर वेष था। मधुर, सुन्दर, मन्द गति से वे चलते थे, चरणों में मञ्जीर एवं नूपुर सुशोभित थे। कटिदेश में नवरत्न काञ्ची सुशोभित थी। काञ्ची से रुनझुन-रुनझुन शब्द हो रहा था। गले में सुन्दर हार था। यमुनातट पर सखाओं के साथ वे दीपदान कर रहे थे। पूर्ण शशधर जैसे मुख पर कुञ्चित केश कलाप सुशोभित थे।"

"अरी बहिन ! इस निगोड़ी लज्जा ने मेरे नेत्रों को इस प्रकार नीचे धरा पर गड़ा दिया कि अरी, मैं पूरा मुख उठाकर उन्हें देख भी नहीं पायी। फिर मेरी सास भी मेरे संग थी, वह बार-बार मुझ पर दृष्टि गड़ाती थी। मुझे धरती पर नेत्र गड़ाये देखकर उसे बहुत ही सान्त्वना हो रही थी। परन्तु मेरे हृदय पर तो वज्राघात हो रहा था री !"

लो, दूसरी सखी अपनी बात कहती है - "अरी बहिन ! जाग्रत में तो उन्हें देखने का प्रश्न ही नहीं बनता । परन्तु यह भी कैसे कहूँ कि वह स्वप्न था। इतना ही ज्ञान है कि वह निशा परम मनोहारी थी। चन्द्रमा पूर्ण विकसित था, और चतुर्दिक् चाँदनी भरपूर छायी थी। शरद ऋतु थी और मौसम इतना सुहावना था, मानो नभ से रजत चूर्ण ही बरस रहा हो।" अहा ! जब यह गोपी अपनी वार्त्ता कर रही थी, सारिका के चित्त में द्विविधा खड़ी हो गयी थी। वह गोपी की रसपूर्ण वार्त्ता सुने कि उस गोपी के अत्यंत चित्ताकर्षक, घने कृष्ण-कज्जल-अनुरंजित, बड़े-बड़े नयनों की शोभा देखे। गोपी बोलती थी तो उसके मुख पर उसकी धवल दंतपंक्ति मुक्तामणियों के सदृश चमक जाती थी और उसके अन्तराल से उसकी अनुपम रसमय वार्त्ता बहिर्गत होती थी। तो गोपी अपनी वार्त्ता आगे बढ़ाती है :- "मन्द-मन्द, अति शैत्य का पुट लिये समीर मेरे तन को उस समय अतिशय सुखद लग रहा था । अरी सखि ! मैं नदी-तट की पगडंडी पकड़े अकेली ही सघन वन की शोभा निरखती चल पड़ी। जहाँ तहाँ नदी का पाट छिछला था और वहाँ असंख्य, लाल, पीली, एवं नीले रंग की पद्मिनियाँ खिल रही थीं। निशा में भी भ्रमरों की झंकार चतुर्दिक् सघन रूप में हो रही थी।"

"अहा सखि ! जिनके मंगलमय नाम को सुन लेने मात्र से प्राणी सदा-सदा के लिये परम निर्मल हो जाते हैं, मैंने देखा वे एक कदम्ब के मूल में बैठे प्यारी बाँसुरि बजा रहे थे। अहा, मेरे चरण अपने वश में नहीं रहे। वे खिंचे, चल पड़े बरबस उसी ओर। अरी बहिन, मनोहारी साँवरी सूरत

देखकर मैं तो निहाल हो गयी। अरी, वे इस वंशी को - जो मात्र बाँस की एक पोली लकड़ी भर है और अनेक छिद्रों से युक्त है, उसे कितना चाहते हैं ? वे उसमें अतिशय सरसता से अपने प्राणों का रस भरते हैं और उसे आप्यायित करते रहते हैं। अरी, वे उसके छोटे-छोटे छिद्र के समान मुख का, जिसमें उनका फेनिल अधरामृत भर जाता है, अपने रसमय प्राणों की फूँक लगाकर प्रक्षालन करते हैं। कभी-कभी यह वंशी यदि उनके मनोनुकूल नहीं बज पाती है तो अपने पीताम्बर को आर्द्रकर, इस वंशी के छिद्रों को प्रक्षालित करते हैं और तब उस पर शतशत चुम्बनों को अंकित करने लग जाते हैं। कभी इस वंशी को ये अपने कपोलों से सटाते हैं और कभी अपने कुन्तलमण्डित सिर को इस वंशी से लगा देते है। और यह वंशी भी उनके अनिर्वचनीय प्रेमानन्द में विभोर हो जाती है और तब उनके हाथ का यंत्र बन जाती है।"

"अरी बहिन ! मैंने निर्णय कर लिया था कि आज उनकी इन अगणित प्रेमिल चेष्टाओं से युक्त छवि को जी भरकर निरखूँगी। आज निशापर्यन्त उनके अंग-अंग से झरती नील ज्योत्स्ना में ही मैं अवगाहन करती रहूँगी। फिर विचार करने लगी कि यदि उनके सहसा सम्मुख हो गयी तो उनका वंशीनिनाद रुक जायेगा, अतः इस कदम्ब की छाया की ओट करके पीछे से चुपचाप चलूँ और क्षुप्, तृण एवं गुल्मों की ओट से उनको मन भर देखती रहूँ।"

"अहा ! कैसी शोभा नीलसुन्दर की थी। मानो वसन्त के दिन हों; नव-तमाल-तरु की शाखाओं में - शाखा की प्रत्येक ग्रन्थि में विविध नवांकुर श्रेणी फूट पड़ी हो; इन नवांकुरों से श्याम तमाल का सौन्दर्य प्रस्फुटित हो रहा हो, परन्तु यह शोभा भी सर्वथा तिरस्कृत जो हो रही है नीलसुन्दर के रोम-रोम से प्रस्फुटित सौन्दर्य स्रोत की तुलना में।"

घुँघराली अलकें कपोलों पर, ललाट के कुछ अंश पर झूल रही थीं। कदम्ब का किंजल्क उड़-उड़कर उनकी अलकों पर गिर रहा था । कुन्तल-मंडित मस्तक पर मयूरपिच्छ का मुकुट सुशोभित था। केशों में सुन्दर सुरभित वन्यप्रसून ग्रथित थे। नेत्रों की मनोहर चितवन एवं अधरों पर व्यक्त हुई मृदु स्मिति की शोभा देखते ही बनती थी। प्रस्फुटित नीलसरोरुह से सुधा विनिंदक मधुधारा क्षरित हो रही थीं। बस, इस अप्रतिम सौन्दर्य को मैं निहार रही थी कि मेरा स्वप्न टूट गया। सखि री! इस निगोड़ी जाग्रति ने मुझे

अथाह विरहाग्नि में झौंक दिया। तब से यह भीषण विरह ज्वाला अलक्षित रूप से मेरे अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में धक्-धक् जल रही है।"

अब तीसरी कहने लगी - "मैं तो उन्हें प्रतिदिन ही अतिशय मीठे सपनों में देखती रहती हूँ। जब जागती हूँ तो वे दृष्टि से ओझल हो जाते हैं। बहिन ! सारा दिवस मैं एक विचित्र-सी दशा में अवस्थित हुई काटती हूँ। जब मेरा स्वप्न टूट जाता है, तब भी कितनी ही देर पश्चात् मुझे पूरा बाह्यज्ञान हो पाता है। जब शरीर का भान होता है तो प्राणों में वेदना भरी रहती है। ऐसा लगता है मानों प्राण कहीं उड़कर चले जायें। अन्तस्तल सर्वथा सूना हो जाता है। परन्तु क्या करुँ बहिन ! दिन तो कल्पों के समान दीर्घ हो जाता है फिर भी काटना तो पड़ता ही है। आज तो रात्रिपर्यन्त स्वप्न आया ही नहीं। मयंक अस्त हो चुके थे, री ! प्राची की लालिमा गवाक्षरंध्रों से झाँकने लगी थी। मुझे लगने लगा, सचमुच ही मेरा जीवन निस्सार है। नीलमयंक प्राणपति से मिलने की तो कोई संभावना ही मेरे इस वर्तमान जीवन में तो है नहीं और अमिलन की अथाह विरह-दावाग्नि मेरे तन के कण-कण को अगाध ज्वाला में निरन्तर झौंके रहती है। मैं अपने ऐसे जीवन से पिण्ड भी कैसे छुड़ाऊँ -- यही विचार कर रही थी। इतने में ही मुझे झपकी आ गयी। अरी बहिन ! कहते हैं प्रभात का देखा स्वप्न सत्य हो जाता है। सुन री ! स्वप्न में वे नील देवता चुपचाप मेरे निकट मेरे अन्तर्गृह में आ गये री ! दिन भर की वह विरहाग्नि, जो अतिशय दाहक हो रही थी, प्रशमित हो गयी। परन्तु न जाने लज्जा के गहन आवर्तों ने मुझे डुबो दिया। फिर भी उनके मुखकमल पर मेरी दृष्टि विजड़ित हो गयी। तत्क्षण ही मेरे नेत्र भ्रमरों के रूप में परिणत हो गये। प्रियतम के मुखारविन्द से राशि-राशि मधु की धारा प्रवाहित हो रही थी।"

"अरी मेरे दो नेत्र-भ्रमर उसी मकरन्दरस का पान करने उन पर टूट पड़े। मेरे प्राण और हृदय सभी तो मेरे नेत्रों से सन्नद्ध थे ही। अतएव, प्रियतम प्राणसुन्दर की वह रूप-मधुधारा उसी तन्तु के सहारे झरने लगी थी हृदय में भी, प्राणों में भी। उसी समय रसपूरित हृदय में लज्जा की एक विशाल लहर आ गयी। उसने सम्पूर्ण द्वार रुद्ध कर दिये। एक साथ यह लज्जा सबका कठोर नियंत्रण करने लगी, इसीलिये लाजभरी पवित्र मुसकान एवं अतिशय भाव-मुद्रा के रूप में व्यक्त होकर वह उन्मादी प्रवाह पुन: पीछे की ओर लौट गया। बहिन री ! कदाचित् लज्जाद्वार अनावृत कर देती तो

हृदय की ओर से उठे हुए उस प्रवाह में बहकर मेरा सब कुछ उनके सम्मुख प्रकट तो हो ही जाता। प्रियतम चरणसरोरुह में मेरा सर्वस्व तो समर्पित हो ही जाता।"

"परन्तु बहनों ! इतने पर भी वे कहाँ मानने वाले थे। उन्होंने मेरे पृष्ठदेश से आकर मुझे चमत्कृत करने के लिये मेरे दोनों नेत्र मूँद लिये री! प्राणधन का मादक संस्पर्श पाकर ऐसी प्रतीति हुई मानो मेरे सम्पूर्ण अंगों में विद्युत् लहर दौड़ गयी हो। मेरा हृद्देश निर्मल अनुराग से परिपूरित हो उठा। अरी ! वह प्रियतम-प्राणनिकेत के कर-सरोज का संस्पर्श नहीं था री, अपितु सम्पूर्ण संजीवनीशक्ति का मेरे प्राणों में संक्रमण था। और तू ही बता मैं उससे भला कैसे बच पाती ? ओह ! प्राणों में फिर से अभिनव उल्लास जाग उठा।"

"अरी फिर वे मेरे नेत्रों के सम्मुख आ गये । ओह ! उनका मुख-सरोज मानो श्याम लता का एक अनिर्वचनीय सुन्दर परिपक्व फल हो। वे मेरे अंग-अंग की अति लोभनीय वस्तु थे। आत्यन्तिक सरलता की सुषमा से समलंकृत थे, वे। उन नील अंशुमाली के सान्निध्य में मेरा हृत्पद्म पूर्ण प्रस्फुटित हो उठा। मेरे नेत्र प्रियतम के दृगञ्चल से जा मिले। अनुराग-महासमुद्र को अपने अन्तराल में सँजोये दो उरस्थल सम्पूर्ण व्यवधानों को ध्वंसकर एकाकार हो उठे। जलते प्राणों का तापमान सर्वथा प्रशमित हो गया -- बाह्याभ्यंतर, सब ओर अभिनव शीतल प्रेमामृतरस से अविराम अभिषेक जो हो रहा था।"

"किन्तु, हाय रे ! सखि, मैं प्रियतम-प्राणवल्लभ के अंग-संस्पर्श की मादकता से, उस दिव्य सुवास से मात्र परिचित ही हो सकी थी कि बस, इतने में आकर किसी ने मुझे जगा दिया।"

"सखि री ! तब से मेरे प्राण जल रहे हैं, री ! अहा ! यह मेरी अप्रतिम नीलीनिधि अब पुनः मुझे कब मिलेगी ? हाय ! हाय ! उस मेरी नीलनिधि के बिना मेरे जीवन धारण का अब अर्थ ही क्या है ?"

देखो, अपनी सखी से वार्त्ता करती-करती यह गोपी अपने तन की भी सुधि भूल गयी है। भावों की प्रबल आँधी इस गोपी को न जाने कहाँ से कहाँ ले जायेगी ? भावों के आवेग में कभी तीव्र, कभी मन्द, पुनः तीव्र,तीव्रतम वेग लिये यह गोपी डूबी जा रही है -- अतल तल में। अब तो यह इतना भी स्मरण नहीं रखे है कि मैं कौन हूँ, क्यों एवं कहाँ आयी हूँ। इसे अपनी स्वर्ण कलशी का भी भान नहीं रहा है।

और जब यह भावसिन्धु किसी को भी अपने अतल तल में ले जाने में समर्थ हो जाता है, उस समय इन भावों का उद्‌भावक भला उससे कैसे दूर रह सकता है।

प्रियतम से मिलन

पूर्वकृत संकल्पों की प्रेरणा से नियंत्रित गोपी यंत्रचालित-सी अपनी स्वर्णकलशी को यमुना घाट में जल में डालती है, जल को हिलोर कर गागर भर कर ऊपर उठाती है; सभी कार्य पूर्वकृत संकल्प से ही यंत्रचालित की तरह उसका तन कर रहा है। और लो, जल की गागर को ईंडुरी-सहित सिर पर रखकर वह अपने गाँव की दिशा में मुख करती है। बस, नीलद्युति प्रियतम उसकी गगरी पीछे से पकड़कर गिरा देते हैं।

गोपी मुड़कर ज्यों ही देखती है -- सौन्दर्यनिधि अपने प्रियतम की मुग्धता-सम्पुटित-भंगिमाओं का रस वितरण कराती छवि सम्मुख पाकर-निहाल हो जाती है। विशुद्ध विनोद कला में अतिशय निपुण, वाक्चातुर्य से विभूषित, हाव-भाव एवं कटाक्षों से नेत्रों को नचाते, क्षण-क्षण में अपनी धृष्ट चंचलता को उन्मुक्त भाव से बढ़ाते, कोटि-अनंग-मदहारी नीलमयंक अपने बिम्ब विडम्बी अधरों पर कुटिल मुसकान बिखेरत--उसे दृष्टिगोचर हो जाते हैं। किसी कुल-ललना की इस प्रकार धृष्टतापूर्वक गगरी गिराने के उपरान्त भी अपनी ग्रीवा को बंक गति देकर भ्रूनर्त्तन करते हुए, कुटिल मादक मुसकाते वे उस गोपी की ओर निहार रहे थे, मानो लज्जा नामक किसी वस्तु से उनका कोई वास्ता ही नहीं हो। उनके नयन, सम्पूर्ण प्राणों का प्यार लिये गोपी के मुख को एकटक निरख रहे थे। सर्वथा संविन्मय रूपलावण्य की गोपी पर वर्षा हो रही थी। गोपी के हृदय की रस कल्लोलिनी कूल-विहीन हो उठी थी।

"अरे ! अरे !! तेरे तो सभी वस्त्र भीग गये री । ले, तू मेरा यह पीत उपरना पहन ले और तेरी ओढ़नी, लहँगा मुझे दे, दे री, मैं इन्हें स्वच्छ कर, सुखा देता हूँ।" लो, प्रियतम अति मधुस्यन्दी स्वर में बोल रहे हैं और साथ ही साथ अपने बंक नयनों को नचा-नचाकर कटाक्षों से इस गोपी के हृदय को बेध भी रहे हैं। उन्होंने गोपी को अपना पीत उपरना उढ़ा दिया है। और इसी मिस से गोपी के हृदय में प्रीति ज्वाला धक्-धक् जला दी है।

लो, गोपी सदा-सदा के लिये उन्मादिनी हो गयी। उसके साथ आई सखियाँ उसे पकड़ने की चेष्टा कर रही हैं। परन्तु, वह तो 'प्रीतम !

प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!! नीलमणि हे'!!!! की रट लगाती गली-गली दौड़ रही है; उसे तो जगत् का कहीं कोई ज्ञान ही नहीं है।

ओह ! यह गोपी अति उच्च स्वर से, जब प्रीतम ! प्राणवल्लभ !! जीवन सर्वस्व !!! पुकारती है तो पशु-पक्षियों के भी प्राण विकल हो उठते हैं। गोपी के वस्त्र अस्त-व्यस्त हैं, उसके आभूषण टूट गये हैं; मुक्ता एवं रत्न इधर-उधर बिखर रहे हैं। कभी यह पुकारने और रटने लगती है -"सांवर रे ! सांवर रे !" फिर इसके स्वरों में इतनी वेदना व्यक्त होती है कि सुनने वालों का हृदय फट पड़ता है।

और लो, यह सारिका भी उन्मादिनी हुई नाचने लगी। इसके भी रोम-रोम से यही ध्वनि प्रवाहित हो रही है - "साँवर हे ! प्रीतम हे ! नीलम हे ! जीवन सर्वस्व हे !"

सारिका प्रसंग : छठी लीला
सारिका की प्रेमदशा

विस्तृत नीलगगन में सारिका उड़ रही है। उसे नीलगगन दृष्टि-गोचर ही नहीं हो रहा है। उसे तो यही प्रतीत होता है कि प्रियतम-प्राणवल्लभ की श्यामलता भरी है -- इस नभ के अणु-अणु में। उसे लगता है - वृन्दावन में, गिरिपरिसर में, यमुना की तरल लहरियों में उसके प्रियतम की नीलिमा ही तरंगित हो रही है। सर्वत्र वनक्षेत्र में, व्रज के ग्राम-ग्राम में, सर्वत्र मात्र इस नीलसुन्दर की रस-सुधा का प्रस्रवण ही तो है। सम्पूर्ण वृन्दाकानन श्यामद्युति से उद्भासित हो रहा है।

सारिका के तन के अणु-अणु से, उसके कण्ठ से, अनवरत ध्वनि निकल रही है :- "सांवर हे ! प्रियतम हे !! नीलम हे !!! जीवन सर्वस्व हे !!!! अश्रुका अनर्गल प्रवाह सारिका के समग्र अंगों को आर्द्र कर दे रहा है। लो ! इस कदम्बखण्डी में बहुत पक्षी बैठे हैं। सारिका उड़ते उड़ते थक गयी है । वह एक कदम्ब वृक्ष पर चुपचाप शान्त बैठ जाती है। उसके सम्मुख उसके प्रियतम की भावछवि प्रत्यक्ष है - कटिदेश में पीताम्बर उत्तरीय फहरा रहा है। मृदुहास्य समन्वित मुखकमल है । कमलकोश से भी अधिक सुकोमल इनके अरुण चरण हैं।

व्रजकिशोर का सौन्दर्य किसी मान्यता की अपेक्षा थोड़े ही रखता है। वह तो ऐसा मादक सौन्दर्यसिन्धु है, जो बस किसी के भी दृष्टि-पथ में आ जाय, देखने वाली का सर्वस्व अनायास ही हरण कर लेता है वह। कोई भी युक्तिवाद वहाँ क्रियाशील रह ही नहीं सकता। जब तक किसी के नयन पथ में वह मूर्त्त न हो तभी तक उसकी बाह्य-दशा मर्यादित रह पाती है।

पक्षीगण नवागन्तुका सारी की प्रेम दशा देखकर चकित हो रहे हैं। उसके नेत्रों से टप-टप अश्रु गिर रहे हैं। रह-रहकर उसका शरीर सूखे-पत्ते की तरह प्रेमावेश में काँप जाता है। पक्षीगण धीरे-धीरे फुदक-फुदक कर उसके चारों ओर आवृत्त बनाकर बैठ जाते हैं। परन्तु सभी अनुभव कर रहे हैं कि ज्योंही उनमें से कोई एक भी परिधि से उसके तनिक भी निकट होता है, उसे एक ऐसी विद्युत् तरंग का अनुभव होता है जिससे उसकी मनोदशा अस्तव्यस्त होने लगती है। अत: कोई भी उस परिधि को भंगकर, उसके निकट होने अथवा उसे स्पर्श करने की चेष्टा नहीं कर रहा है। सर्वत्र विलक्षण शान्ति है। चतुर्दिक ऐसी एकान्तिकता दृष्टिगोचर हो रही है, मानो कीट, पतंग, वृक्ष-लता, सुमन, पशु-पक्षी ही नहीं, यमुना और पवन भी सारिका की ओर अपना सारा ध्यान केन्द्रित किये हैं, और उसकी विलक्षण प्रेम-भावराशि का एकटक पान करने को उत्सुक हैं। यमुना ने कल-कल निनाद स्थगित कर, अपना प्रवाह शान्त एवं सम कर लिया है और पवन भी मन्द, शीतल, सुगन्धित अति शनै:-शनै: प्रवहमान है। ऐसा प्रतीत हो रहा है, मानो सम्पूर्ण प्रकृति ही सारिका की ओर ही दृष्टि जमाये उसे ही अति उत्सुकता से निरख रही है। सर्वत्र पूर्ण आनन्दमय वातावरण है।

सारिका तन से तो यद्यपि उस कुसुमित कदम्ब पर बैठी है परन्तु उसका अस्तित्व तो वहाँ है ही नहीं। उसके सम्मुख एक ही दृश्य है, गोपी को प्राणवल्लभ पीत उपरना उढ़ा रहे हैं। और ज्यों ही वह पीत उपरना गोपी देह को संस्पर्श करता है गोपी-'गोपी' रहती ही नहीं। अन्य लोगों को देह तो वही गोपी का ही दिखता है, परन्तु गोपी की समग्र सत्ता, उसकी अस्मिता, उसका अन्त:करण, मन-बुद्धि, चित्त एवं सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ सभी डूब जाती हैं, रानीरूप महाभाव-महोदधि में।

गोपी में राधा-भाव संचारण

गोपी का मुख वही है, आकृति वही है, परन्तु उस आकृति में आभा भर जाती है -- शरच्चन्द्र को भी हेय बनानेवाले प्रिया राधारानी के मुख-सरोज की। नित-नूतन सौन्दर्य की प्रतिपल अभिनव माधुरी छलक उठती है, उस मुख के अन्तराल से। वह मुख साधारण नारी-मुख नहीं रहता - कोटि-कोटि-कन्दर्प विनिन्दक लावण्य-सिन्धु आनन-सरोज हो उठता है। गोपी की केशराशि पूर्ववत् ही रहती है, परन्तु उसमें ही व्यक्त हो उठती है - अभिनव सुन्दर, कृष्ण-कुञ्चित कुन्तलराशि, जिसकी मनोरमता, सुकोमलता, सुचिक्कणता, अनुपमेय हो उठती है। वेणी सर्ववन्द्य, प्रियतम-चित्ताकर्षिणी नागिन का उपमान बन जाती है। गोपी का तन वही रहता है, परन्तु उसमें से कुन्दद्युति दमकने लगती है। तन पर पड़ा प्रियतम का उत्तरीय पीताम्बर नवनीरदवर्ण लहँगे में परिवर्तित हो जाता है और अनमोल प्रियतम-प्रेम-रत्नों से जड़ा झलमलाने लगता है। मस्तक पर मणिमय चूड़ामणि स्वत: ही प्रकाशित हो उठती है । अहो ! गोपी के मुखमण्डल पर अनुपम लावण्य, अप्राकृत मधुरिमा, विलक्षण सरसता, अतिशय सुकोमलता, और अद्वितीय कान्ति असमोर्ध्व रूप में दमकने लगती है । अब वह गोपी 'गोपी' रहती ही नहीं; कृष्णकान्ता, कृष्णाराध्या, कृष्ण-संजीवनी, कृष्ण-जीवन-जीवनेश्वरी, राधा-रासेश्वरी हो उठती है।

सारिका स्पष्ट परिलक्षित करती है - किशोरी रानी ही सखियों सहित यमुना-तट में जल भरने आयी थीं, विलक्षण संयोग हुआ, यह गोपी भी उसी समय यमुनाघाट पर अपनी सखियों सहित पहुँची और रानी में अपरिसीम स्नेह-सिन्धु उद्वेलित हो उठा। उस महाभाव-सिन्धु में यह गोपी किसी अपरिसीम सौभाग्य से अवगाहन कर गयी और फिर तो उस महाभावसिन्धु में पूरी की पूरी विलीन ही हो गयी।

गोपी का मन और अन्त:करण एक लघुत्तम खद्योत के समान था। उसमें प्रियतम-प्रेम की ज्योति अवश्य थी, परन्तु वह रसमयी प्रीति किसी तरुवल्लरी के पत्रांश को एक क्षण के लिये क्षीण चमक का दान भले ही कर सकती थी। ग्रीष्म में समुद्भासित सूर्य के समक्ष उसकी सत्ता सर्वथा नगण्य थी। सहसा अनन्तकोटि-जन्मार्जित पुण्यों का गोपी में उदय हो गया और गोपी प्रचण्ड प्रीति की स्रोतस्विनी भानुनन्दिनी की कृपा-वात्सल्य की ग्रहीता हो गयी। अब

तो गोपी अपनी सम्पूर्ण आवरण-शक्तियों को उन महा महाभावमयी में विलीन कर देने के लिये बाध्य हो गयी। फिर क्या था, गोपी, 'गोपी' रही ही नहीं, 'राधा' हो गयी। और राधा के सम्मुख तो राधाधन को प्रकट होना ही पड़ता है। गोपी के नेत्र एक दिव्यातिदिव्य नीलतेज के उन्मेष से भर जाते हैं। अहा ! चन्द्रज्योत्स्ना-सी मन्द मुसकान उसके नयनों के मार्ग से हृदयस्थल में पैठती चली जाती है। अरुणिम नेत्रप्रान्त की चितवन तो सीधी कलेजे को बेधती चली जाती है। अहा, कैसे नेत्र हैं ये ? इनकी अरुणाई मानो विशुद्ध रजकी प्रतीक है अत: उस के अन्तस्तल में अनन्त प्रीति-मनोरथों (सुखदान-वासना) का सृजन हो उठता है। और नेत्रों की उज्ज्वलता का अंश मानो सत्व का प्रतीक है, जो उसकी प्रीति का संवर्द्धन, पालन कर रहा है। और नेत्रों का कृष्णांश - वह तो उसे अपने में पूर्णतया विलय ही कर ले रहा है। उज्ज्वलहास्य अधरों पर तबतक नाचता ही जाता है, जबतक गोपी पूर्णतया प्रिया-महाभावसिन्धु में पर्यवसित नहीं हो जाती।

अब इससे अधिक देखने की सामर्थ्य सारिका में नहीं रहती। उसके नेत्र इस चिन्मय चमत्कार से सर्वथा पूर्ण हो उठते हैं। सारिका के हृदय में किशोरीरानी के अपार वात्सल्यमय स्वभाव के स्तवन का भाव भर उठता है। वह रानी को खोजने चल पड़ती है। परन्तु सारिका एक अप्रतिम आश्चर्य-दर्शन से चकित हो उठती है। सारिका के नेत्रों की, मन की दशा ही विचित्र हो गयी है। उसे लगता है, जैसे व्रज का तृण-तृण, पत्ता-पत्ता नवनीलनीरदवर्ण और कंचनद्युतिवर्ण-प्रियतम श्यामसुन्दर एवं उनकी प्रिया ही है। प्रथमत: उसे अनुभव होता है, जैसे सम्पूर्ण व्रज-विश्व में प्रियतम नील सुन्दर भरे हों, फिर उसे दिखता है कि नहीं, इस नीलधारा का परम सत्य इसके हृदयस्थ पीतधारा में निहित है। पुन: लगता है कि नहीं, पीतधारा के अन्तराल में पूर्णतया नील सौन्दर्य ही क्रियाशील है, फिर लगता है नहीं, समग्र क्रियाशीलता को साक्षी के रूप में पीतवर्ण ही संचालित कर रहा है। सारिका की कर्मेन्द्रियाँ आनन्दातिरेकवश स्थिर हो जाती हैं। समस्त ज्ञानेन्द्रियाँ एक अभिनव आनन्द के पूर में निमग्न हो जाती हैं। मन, उस दर्शनसुख में डूबकर अपनी सत्ता खो बैठता है। सारिका की पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन ग्यारहों-की-ग्यारहों इन्द्रियाँ इतनी शान्त हो जाती हैं, जैसे इनका सम्पूर्ण अस्तित्व ही सदा-सदा के लिये विलीन हो गया हो। सर्वत्र, क्या प्रिया-प्रियतम ही प्रिया-प्रियतम हैं ? अन्य कुछ भी नहीं ? सुपक्व,

सुमधुर फलभार से अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावलियाँ, रंगबिरंगे सुरभित कुसुमों के आभरण धारण कर तरुश्रेणियों को वेष्टित किये लतावल्लरियाँ सारिका के लिये इस समय प्रिया-प्रियतम से भिन्न कोई सत्ता ही नहीं हैं। तरुश्रेणियाँ प्रिया हैं तो लतावल्लरियाँ प्रियतम हैं, लतावल्लरियाँ प्रिया हैं तो तरुश्रेणी प्रियतम है, और इतना ही नहीं तरुश्रेणी के तने में भी प्रियाप्रियतम ही प्रियाप्रियतम भरे दृष्टिगोचर हो उठते हैं। सारिका के लिये चित्र-विचित्र विहंगमों का कलगान, इस समय मात्र प्रियाप्रियतम का रसालाप ही बन जाता है। सारिका-एक साधारण पक्षी में भला इतनी कहाँ सामर्थ्य कि वह प्रियाप्रियातम के असमोर्ध्व प्रेमवैभव को और अधिक देख सके। उसके नेत्रों के सम्मुख जितना जो अंश व्यक्त हो रहा है वह इतना विलक्षण है कि पूरी की पूरी ही वह डूब जाती है। तर्क समाधान कर नहीं सकता।

सारिका की प्रेम दशा

सारिका इतना ही जान रही है -- प्रियाप्रियतम प्रकृति से परे की वस्तु होते हुए भी इस वृन्दावन की पूर्ण प्रकृति हैं। वे स्वप्रकाश, परमानन्दस्वरूप होते हुए भी सारिका के विलक्षण दृश्य हैं। सारिका ठीक अनुभव कर रही है-प्रियाप्रियतम ही यहाँ सब मनुष्यों के रूप में हैं और प्रियाप्रियतम ही विडाल-मूषक, सर्प-नकुल, बने भिन्न-भिन्न शत्रुभाव परायण प्राणिवर्ग हो रहे हैं। परन्तु उनमें प्रेम का ऐसा विलक्षण प्रभाव है कि इन सभी परस्पर शत्रुभावपरायण प्राकृत देह-वस्त्रों को ओढ़े हुए भी वे अहा, कैसे परस्पर स्नेह के सूत्र में बँधे हैं ? अहा ! कैसी इनमें मैत्री है ? कहीं मलिन विकृति की संभावना ही नहीं। कानन में, कानन के आश्रित चराचर समुदाय में, कहीं क्षुधा-पिपासा प्राणों को चंचल नहीं करती, काम, मन का मन्थन नहीं करता, क्रोध, इन्द्रियों को जलाने नहीं आता, लोभ, सम्मोहन का सृजन नहीं करता, एक भी अशुभ विकृति प्रवेश ही नहीं कर सकती इनमें। इनकी यहाँ गन्धमात्र भी नहीं। इस प्रकार परम रमणीय वृन्दारण्य के आन्तरिक सत्य की द्रष्टा हुई सारिका निमीलित नयन है। उसकी समस्त इन्द्रियाँ उत्फुल्ल हैं ! वह जिस ओर दृष्टि मोड़ती है वहीं अनुभव करती है, कण-कण में निराविल प्रेमभरे प्रिया-प्रियतम विद्यमान हैं। निर्मलतम प्रेम के वे दोनों मानो उफनते निर्झर हों। इस अमित माधुर्य राशि को देखती सारिका चुपचाप बैठी है।

ग्रामवासियों की आँखें तो केवल गोपी को ही उन्मादिनी देख रही हैं परन्तु सारिका के उन्माद को तो कोई परिलक्षित ही नहीं कर पा रहा। गोपी को सम्हालने, उसके पीहर एवं श्वसुराल के लोग आ गये हैं। लो, पौर्णमासीदेवी भी आ गयीं। उन्होंने सभी व्रजवासियों के कानों में न जाने कैसा मंत्र फूँका है, सभी इस गोपी की चरणधूलि की वन्दना कर रहे हैं। परन्तु उन्मादिनी सारिका पक्षी को कौन सम्हालेगा ? अवश्य ही पक्षी-समूह उसके चतुर्दिक घेरा लगाये उसे अति स्नेह-सौहार्द भरी दृष्टि से निहार रहा है। परन्तु सारिका उन्हें कैसे इस सत्य को समझावे कि वे पक्षी नहीं है, उनके रूप में नीलसुन्दर प्रियतम ही अपनी प्रिया के स्कंध देश में भुजा रखे अवस्थित हैं। वे ही, वे ही इस रंगमंच में सभी नाट्यवेश धारण किये हैं। सारिका पुनः चीख उठती है - नीलम हे, साँवर हे, प्रियतम हे !

पक्षी समझ रहे हैं सारिका नीलमणि प्राणप्रियतम के विरह में विकल है, परन्तु सत्य यह है कि नीलसुन्दर अपनी प्रिया के स्कंध देश में भुजा रखे, अपनी प्रिया को अपने से सटाये सम्पूर्ण व्रजजगत में विचर रहे हैं। प्रिया 'नीलम'! 'नीलम'!! पुकारती है और प्रियतम-"प्राणेश्वरी, प्राणेश्वरी"-प्रेम संबोधन करते हैं। वह महाभावसिन्धु, नीलपीतद्युति-रमण-रमणी बना सर्वत्र विलसित हो रहा है। पारावारविहीन रसनिर्झरिणी ही यह सम्पूर्ण व्रजमंडल है।

इस प्रकार, कुछ काल तक तो सारिका में ज्ञानदीप की ज्योति जगी किन्तु फिर वह विलीन हो गयी - भक्ति की मन्दाकिनी में। उसका अन्तस्तल प्लावित हो उठा अतिशय दैन्य में। वास्तव में भक्ति की स्निग्धता ही ज्ञान की जननी है । भक्ति सान्द्र, सान्द्रतर होती हुई ज्ञान को जब आत्मसात् कर लेती है तभी ज्ञान कृतकृत्य होता है। क्योंकि अन्यथा तो ज्ञान प्रिया-प्रियतम के चरणसरोज की निर्बाध सेवा से ही वंचित हो जाय। ज्ञान की सार्थकता इसी में है कि उसके प्रकाश में प्रियाप्रियतम की महिमा का तत्व प्रकट हो जाय। बस, इसके पश्चात् तो भक्ति की स्निग्ध स्रोतस्विनी ही उसे पूर्ण विश्राम दे पाती है।

सारिका पुकार उठी -"हे मेरे शत सहस्र प्राणों की रानी ! आपने मुझे अपनी अहैतुकी कृपा का प्रकाश देकर, अपने जिस शुचितम अनुराग का परिचय दिया है, काल के अनादि, अनन्त प्रवाह में हाय रे, न तो मैं उसके योग्य ही बन सकी, न कभी बन ही सकूँगी ? सर्वथा सर्वांश में निरर्थक ही है, मेरा अस्तित्व।"

"हे प्राणवल्लभे ! मैं आपका ऋण परिशोध कर ही नहीं सकती। निरवधि नित्य ऋणी रहना ही मेरी नियति है। हे प्राणप्यारी किशोरी ! आपके विशुद्ध उच्छलित रससिन्धु की एक कणिका ही मेरा जीवनावलम्बन है।"

"हे प्रियतमे ! मेरे अनन्त दोषों पर तो आपकी दृष्टि ठहर ही नहीं सकती क्योंकिं आपकी दृष्टि ही विशुद्ध विमल है। मैं तो आपकी कृपाराशि में ही निरवधि नहाती रही हूँ और नहायी ही रहूँगी। आपकी कृपा ही मेरा पोषण है।"

"हे किशोरी ! मुझ में यह योग्यता ही नहीं कि मैं अपनी पलकों से आपकी चरणरज पौंछ सकूँ, परन्तु मेरी सभी अयोग्यताएँ आपको ही दूर करनी हैं । हे मेरी जीवनाधार ! मेरा नित्य निवासस्थल तो आपके ये अरुण चरण ही हैं।"

इधर तो भक्तिजन्य दैन्य में सारिका का मन बह रहा था, उधर सारिका के भावों की प्रतिच्छाया लिये अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया लीला-संरचना करने में तत्पर हो जाती हैं।

वन में प्रिया प्रियतम का आगमन

सारिका उसी कदम्ब वृक्ष पर बैठी सभी पक्षियोंसहित देखने लगी -- रूप की किरणों से दिशायें उद्भासित हो रही है; नूपुरों और कटि किंकिणी के रव से कदम्ब के चतुर्दिक का सम्पूर्ण वनक्षेत्र मुखरित होने लगा है। सारिका के कान उस अमृतमयी झंकार में डूबने लगे। उस मोहक रव की सत्ता के सम्मुख अन्यत्व रहता भी कैसे ? लो ! रानी सखियों सहित वनदर्शन करने आई हैं। विश्वसत्ता का सम्पूर्ण सौन्दर्य, जैसे तरुश्रेणी के पत्तों-पत्तों में फूट पड़ा। सम्पूर्ण सुषमा को, जैसे किसी ने वन के अणु-अणु में उँडेल दी हो। रानी की दृष्टि जिधर भी उठती है, अतिशय सौन्दर्य से सजी वनश्री, नमित सम्मुख खड़ी हो जाती है।

अरे ! वहाँ प्राणप्रिया समुपस्थित हों, वहाँ से रसलुब्ध मधुकर प्रियतम को वर्जित कर सकने की सामर्थ्य ही किसमें है ? सम्पूर्ण रसिकता के मूल-स्रोत व्रजेशतनय एक सुरम्य लतावितान के तले अपनी प्राणप्रिया पर रसमयी दृष्टि निक्षेप करते सारिका को दृष्टिगोचर हो जाते हैं। सारिका भयभीत हो उठती है परन्तु दूसरे ही क्षण वह आश्वस्त हो जाती है। वनश्री उसके कानों में अतिमधुर स्वर में कह देती है - "मेरी बहिन ! रसिकशेखर और उनकी प्रिया

की सेवा का उपकरण बन पाने का अवसर बार-बार तो वन को मिलने से रहा। देखो ! सर्वथा व्यग्र मत होओ । निश्चिंत हो जाओ । सम्पूर्ण वनपथ वृन्तहीन सुमनास्तरण की मृदुलता को भी तुच्छीकृत करने वाली मृदिमा से युक्त है। बहिन ! प्रियाप्रियतम निर्बाध कहीं भी जावें, टहलें, घूमें, विहरें, वन को हर कोने से - पथ, अपथ, सर्वत्र, सर्वदिशाओं से देखें - उनके चरणों की सुकोमलतम चरणस्थलियों के लिये, उनके कर की अँगुलियों के लिये, हथेलियों के लिये सर्वत्र अतिशय असीम मृदुलता यहाँ व्यक्त मिलेगी। यदि विश्वास न हो तो किसी प्रतीत होने वाले कठोर से कठोर वृन्त को नेत्रों में अंजन की तरह लगाकर देख लो । कज्जल में भले ही कहीं कठोरता अवशेष रह जावे - इन वनतृणों में, वृन्तों में कहीं किंचित् भी कठोरता का लेश भी अनुभव में नहीं आ सकता । ये प्रस्तर खण्ड भी मात्र दिखने में कठोर दृष्टिगोचर हो रहे हैं, इनमें सुमनों की मृदुलता को तुच्छीकृत करने वाली पूर्ण सरसता निहित है।

सारिका देख रही है -- नन्दतनय तो वंशी को ही संस्थापित करने जा रहे हैं, अपने अधरों पर। अहा ! अब तो प्राणेन्मादी वेणुवादन से रवितनया का सम्पूर्ण कूल ही निनादित हो उठेगा। अरे ! उस मोहक स्वरलहरी में तो सभी डूब जायेंगे। कोई बच ही नहीं पावेगा।

लो, रानी और सखियों के पदविन्यास हो उठे उसी दिशा की ओर, जिधर से प्रियतम की वंशी की तान आ रही है। लो ! सभी सखियाँ प्राणवल्लभ को चतुर्दिक घेर कर यंत्रचालित-सी आसीन हो गयी हैं, वहीं धरा पर। रानी तो इस वंशी-विमोहन के बगल में ही खड़ी हो गयी हैं।

सारिका अति उच्च स्वर से पुकार उठी - "अरे ! अरे ! श्यामाम्बुद-राशि में असंख्य पिंगल विद्युल्लहरियाँ बारंबार कौंध रही हैं और रसनिर्झर का निर्माण करती, व्रज की धरा को प्लावित कर रही हैं।"

देखो ! आनन्द-अनुराग के आवर्तो में डूबते-उतराते प्रिया-प्रियतम दोनों वनवीथियों में अग्रसर हो रहे हैं। उनके पीछे सखियाँ, अति रसभरी उनका अनुसरण कर रही हैं । एक दूसरे को रसदान के प्रयास में उनकी रसमत्तता, उनके नयनों की गति, उनके अंग-संस्थान का स्पंदन, ओह ! कैसा प्राणोन्मादी है। इस रसदानी का यह रस-वितरण कैस अभिनव विमोहन का जाल विस्तारित कर रहा है ?

और देखो ! दम्पति के अन्तस्तल में प्रवाहित रस की धारा का प्रपात हो रहा है -- उनसे प्राणों का तादात्म्य स्थापित किये हुए विहंगम-श्रेणी में,

चतुष्पाद-समूहों में, तरुवल्लरियों में, ह्रदों में, कासारों में, और कल्लोलिनी में। एक अननुभूत आनन्द जड़िमा व्यक्त हो उठी है, इन सब में। देखो ! देखो !! तृणावली वसुधा के वक्षस्थल पर नाच रही है। सभी पक्षी उन्मुक्त स्वर में अपनी-अपनी वाणी में बोलते हैं और अपने रोम-रोम को थिरकाते नर्त्तन करने लगते हैं।

अहा ! सखियों के नेत्र अपलक विस्फारित हैं। उनके सामने विश्व-चमत्कारी सौन्दर्यपूर द्विधारूप में विभक्त खड़ा है। जिसके कणमात्र के सम्पर्क से आत्माराम योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण विमोहित हो जाते हैं, उस अनन्त पारावारविहीन रूपसुधासमुद्र में अवगाहन करती सभी सखियाँ ही नहीं, वन के पशु-पक्षी, जलचर, जड़-चेतन, समस्त प्रपञ्च की सत्ता ही विमुग्ध हो उठी है। रसदानी के वेणु-रव-पीयूष-वर्षण से सारिका आकण्ठ भीग गई है। सौभाग्य इसे कहते हैं।

रानी की अलकावलि में विलय

अपलक निहारते-निहारते सारिका को अपने तन का भान ही नहीं रहा है। कौन है वह ? कहाँ से आयी थी ? कहाँ गन्तव्य है उसका ? कहाँ है वह, इस क्षण ? सभी ज्ञान तो खो चुकी है वह । मन विलीन हो चुका है, उसका नील-पीत-सौन्दर्य-वारिधि में।

अचानक विलक्षण चमत्कार हुआ। उस भावसमाधिगत अपरिसीम आनन्द की तरंगों में नाचती हुई सारिका विलीन हो गयी रानी की कुञ्चित अलकावलि में। और उसी समय पुनः उद्भव हो गया रानी की मसिबिन्दु से -- एक परम सुन्दरी गोपी का। विस्मय ! विस्मय !! अतिशय मौग्ध्य की लहरियाँ उस गोपी के मुख पर नाच रही हैं। इस गोपी के मन में अपरिसीम आनन्द की तरंगें उठ रही हैं और साथ ही एक अभिनव अभिलाषा उसमें उन्मिषित हो जाती है।

बस, निरवधि इन्हीं प्रिया-प्रियतम-युगलचरणों की सेवा ही मेरा व्रत होगा। इन युगल का सुख ही मेरा सुख होगा। इनसे भिन्न कभी, कहीं, कुछ भी मेरी रुचि नहीं होगी। इनकी रुचि के अतिरिक्त कुछ भी यदि लेशमात्र भी मुझ में चाह हो, तो वह सर्वथा, सर्वांश में सदा-सदा के लिये विलुप्त हो जाय।

शब्द नहीं है, जो इस गोपी के सौन्दर्य, माधुर्य एवं शील की वैभवराशि को व्यक्त कर दें। भला, साक्षात् सरस्वती भी चाहें तो उसके महिमामण्डित

स्वरूप को भाषा में बाँध नहीं सकतीं। प्रियतम-प्राणवल्लभ एवं प्रिया किशोरीरानी दोनों की अशेष प्रीति की आवासस्थली, जो यह ठहरी। दोनों ही की असमोर्ध्व प्रीति, अपनी सम्पूर्ण गरिमा के साथ, इस एक प्रतिमा और मूर्त्ति में मूर्त्त जो हो रही है। नवीन, नवीनतर सुषमा एवं सेवा का उत्साह व्यक्त हो रहा है, इसमें।

लो ! अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ने अपनी अभिनव रागिनी के मिस से यथावश्यक संकेत दान कर दिया इसको कि वन में आगत जीवनधन, नील-पीतद्युति सौन्दर्यसार-प्रियाप्रियतम वसन्तोत्सव लीला करेंगे।

लो, नवकैशोर से विभूषित व्रजराजदुलारे और भानुनन्दिनी दोनों ही प्रतिक्षण वर्द्धमान नव-नव उल्लास लिये होली खेलने की समुत्सुकता का संकेत भी कर चुके, सखियों पर।

होली-लीला

पू० गुरुदेव का महाभावमय व्रजजगत परमविलक्षण है। यहाँ के गोवत्स, गोपशिशु, गोप, गोपांगनाएँ, यहाँ तक कि आकाश, वायु, अग्नि, जल, एवं पृथ्वी, साथ ही तृण, वीरुध, गुल्म, लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, सभी के रूप में न तो ऋषि-महात्मा हैं, न ही कोई भगवत्पार्षद हैं। देवी-देवताओं के होने का तो प्रश्न ही नहीं। एक मात्र पू. गुरुदेव के प्रियतम श्रीकृष्ण ही इन असंख्य रूपों में आत्म-प्रकाशित हैं। यहाँ दीख रही हैं -- गोपियाँ, राधारानी, वृन्दावन, नन्द, यशोदा, वृषभानुबाबा, माता कीर्तिदा, सुपक्व सुमधुर फलभार से अवनत हुई राशि-राशि वृक्षावलियाँ, रंगबिरंगे सुरभित कुसुमों के आभरण धारण कर तरुश्रेणियों को वेष्टित किये लता वल्लरियाँ, इन पर आसन डाले चित्र-विचित्र विहंगमों का समूह, हरित् तृणराजि - परन्तु सत्य का सत्य यह है कि वास्तव में पू. गुरुदेव के प्राणवल्लभ ही परिदृश्यमान अनन्त रूपों में आत्मप्रकाश कर उनका दृश्य बने लीला विहार कर रहे हैं।

कोई पूछेगा कि इस अनेक होने का प्रयोजन क्या है ? तो एक ही उत्तर है; आत्मलीलाविहार मात्र; महाभावसमुद्र का अनन्त रसप्रकाश, रसोच्छलन मात्र। पू० गुरुदेव ने यावज्जीवन 'सर्वं विष्णुमयं जगत्' के सिद्धान्त रटे थे। पू.गुरुदेव के गुरुदेव - श्रीपोद्दारमहाराज की कृपा से इन श्रुति-पुराण वाक्यों का वास्तविक अर्थ उनके सम्मुख यथार्थत: इन लीलाओं में ही प्रकाशित हुआ।

इनके अर्थ के सम्बन्ध में कहीं किसी को तनिक भी भ्रम एवं संशय नहीं रह जाय, इस उद्देश्य से इनके अर्थ, पू० गुरुदेव के सम्मुख उनके प्रियतम इन लीलाओं के प्रकाश द्वारा मूर्त्तिमान कर दे रहे हैं।

जैसे सन्निपात से रुग्ण व्यक्ति की तृष्णा शान्त नहीं होती, जल पीने से उत्तरोत्तर बढ़ती है, इसी प्रकार प्रियतम नीलसुन्दर में अपने ही द्वारा, अपने ही रसपान की लालसा, ज्यों- ज्यों वे लीलारसपान करते हैं, निरन्तर प्रबल, प्रबलतर होती रहती है। अपने ही लीलामाधुर्य का अपरिसीम आस्वादन कैसे हो - इसी भावना से वे ही लीलारसमत्त हुए अपने को ही अनेक रूपों में व्यक्त पाते हैं। और तब वे, लीलारसमत्त स्वयं भगवान्-गोवत्स, गौएँ बन जाते हैं, गोपाल बन जाते हैं, वन, नदी, पहाड, तृण, वीरुध, गुल्म, पत्र बन जाते हैं और मुग्धता-स्फुटित लीलारस की मन्दाकिनी प्रवाहित हो उठती है। यह होली भी इसी महालीला रससमुद्र की एक धारा मात्र है।

देखो ! देखो ! लीला के ठीक उपयुक्त रंगमञ्च घटित हो, एतदर्थ वनश्री के सम्मुख हाथ जोड़े कन्दर्प सेनापति अति विनीत मुद्रा में कुछ निवेदन कर रहा है। "स्वामिनी ! नहीं किसी भी अंश में कोई त्रुटि नहीं रहेगी। यह तो मेरे चिर-अभ्यास की वस्तु है। कन्दर्प-सेनापति देव जगत् का प्राणी होता, तो भूल भी हो जाती। ये तो साक्षात् अनन्त विश्व सृष्टाओं के नियन्ता स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं। वे ही तो व्रजजगत् में कन्दर्प हैं और वे ही कन्दर्प सेनापति-वसन्त। फिर उनसे भूल भला कैसे संभव हो सकती है ? अत: निर्भूल परम सुन्दर रंगमञ्च बन गया। "वन के राजा वृन्दावनेश्वर होली खेलेंगे" - समीर ने यह संदेश कानन के कोने-कोन में फैला दिया। वल्लरियाँ अपनी अपरिसीम सम्पदा - प्रस्फुटित पुष्प अपने प्राणधन के चरणों में समर्पित करने को समुत्सुक हो उठीं। रत्नमयी भूमि ने अगणित छोटे-छोटे जल के कुंड स्थान-स्थान पर निर्माण कर दिये। चतुर्दिक-प्रसरित लताओं से समीर ने चुन-चुन कर किसी में लाल पुष्पों के ढेर गिरा दिये एवं किसी में हरित् पुष्पों के असंख्य गुच्छ। ये पुष्पगुच्छ निपतित होकर जल में स्वत: ही घुल गये। पुष्पों की पंखुड़ियों और केसर ने कुंड़ों के जल को अगणित रंगों में रंजित कर दिया। सभी कुंड अत्यंत मनोहारी रूप में अनेक रंगों के जल से छलकते, विलक्षण शोभा प्रकाश कर रहे थे। सभी कुण्डों का जल भिन्न-भिन्न रंगों से रंजित तो था ही, साथ ही पुष्पों की मनोहारी गन्ध

से पूर्णतया सुगन्धित भी था। अति सुगन्धित पुष्पसार जल पर तैरता स्पष्ट परिलक्षित हो रहा था।

अब इधर देखो ! उन्नत शाखा किये वृक्षों के नीचे पुष्प-किंजल्क के छोटे-छोटे स्तूप स्वत: ही निर्मित हो जा रहे हैं। तनिक स्पर्श तो करो, कैसी मुलायम किंजल्क है। कहीं एक कण भी कठोर रह जाय, और प्रिया-प्रियतम किंवा किसी सखी के नेत्रों में, उनके सुकोमलतम अंगों में तनिक भी गड़ जाय, ऐसी संभावना ही नहीं है। जैसे स्वयं वनश्री और वसन्त ने मिलकर सारी किंजल्क पीसी हो। कज्जल की तरह सुकोमल किंजल्कचूर्ण के अम्बार खड़े हो गये हैं। इधर गुलाबी केसरचूर्ण है, तो यहाँ स्वच्छ चम्पई। एक ओर शुद्ध रक्तवर्ण की पराग है, तो इस ओर केसरिया रंग की। अरे, इन सभी परागों के ढ़ेर की महक तो ऐसी मनोहारी है कि घ्राणेन्द्रिय मतवाली ही हो उठी है।

वसन्त ने जैसा आश्वासन वनश्री को दिया था, ठीक उसी प्रकार समस्त वन को श्रृंगारित कर दिया है। वृक्षों की एक-एक डाली, एक-एक पत्र, तना, छाल-सब परम स्वच्छ । सम्पूर्ण वन का कोनाकोना, जैसे पहले झाड़ दिया गया हो और तब उसे चन्दनवारि से धो दिया गया हो, और फिर सर्वत्र उस पर पुष्परससार छिड़क दिया गया हो, इस प्रकार स्वच्छ, निर्मल, सुगन्धित हो उठा है। सम्पूर्ण वन वृक्षों पर लताओं ने रंग-बिरंगे पत्रों और पुष्पों से वन्दनवार बाँध दिये हैं और स्थान-स्थान पर पुष्पमालाओं की लड़ियाँ रत्नहारों की तरह सुशोभित हो रही हैं। श्वेत मोगरा और बेला, जुही और चमेली - इन पुष्पों की बेलें भूमि पर ऐसी प्रसरित हैं, जैसे मोतियों से चौक पूरे गये हों।

वृक्षों की सजी हुई डालियों पर शुकों की पंक्तियां विराजित हैं, मानो आशीर्वादात्मक मंगलवचनों का पाठ करने ब्राह्मण बुलाये गये हों। उनसे कुछ दूर पर कोकिलाएँ बैठी हैं, मानो सूत एवं मागध प्रिया-प्रियतम की कन्दर्प-क्रीड़ा का कीर्तन करने सन्नद्ध हों। इधर अगणित सारिकाएँ संकेत की प्रतीक्षा ही कर रही हैं, तनिक-सा संकेत वनदेवी कर दे तो वीणा-विनिन्दक-स्वर में सुन्दर रागिनी आलाप कर उठें। उनसे कुछ दूरी पर कपोत मृदंगवादन के साथ अपनी घुत्-घुत् ध्वनि करने को पूर्णतया समुत्सुक हैं। लो ! मयूरों का दल नृत्य के लिये पुच्छ उठाने को आतुर हो रहा है। और इधर हरिण हरिणियाँ आदि सभी चतुष्पाद भी भीड़ लगाये वसन्तोत्सव के

दर्शन को आतुर हो रहे हैं। अरे यह क्या ? कन्दर्प स्वयं अपने सेनापति के साथ ही साथ समुपस्थित हुआ सब साजसज्जा का निरीक्षण करने आया है--नित्य-निकुंजेश्वर और नित्य-निकुंजेश्वरी के फागोत्सव की रंगमंच सज्जा में कहीं तनिक-सी त्रुटि नहीं रह जाय। अरे, अरे ! यह क्या, बिचारे कन्दर्प ने पदार्पण तो बहुत उत्साहपूर्वक किया था, परन्तु इन नित्य-निकुंजेश्वरी की चरणस्थली की एक तनिक-सी झाँकीभर ही उसे मिली, कि वह हतप्रभ कहीं मुख छिपाने का स्थान ढूंढ़ने लगा।

देखो ! देखो !! गैरिक आदि धातुओं से अपने अंग-प्रत्यंगों को चित्रित किये, पुष्पमालाओं को कण्ठाभरण बनाये और उन्हें ही भुजाओं में लपेटे, सिरों पर पहनी पगड़ियों में, मयूर, हंसादि अनेक सुन्दर पक्षियों के पिच्छ खौंसे, पीत, रक्त, हरित, नील और स्वच्छ रंगों के वस्त्र पहने, नन्दनन्दन के अगणित सखा हाथों में डफ, मृदंग, झाँझ लिये, अपने चरणों में पिंडलियों तक घुँघुरू बाँधे नृत्य करते आ रहे हैं। और इनके मध्य में, तारागणों के मध्य श्यामचन्द्रमा की तरह - नीलमणि प्राणवल्लभ की विलक्षण शोभा हो रही है।

अहा ! वनस्थली सखाओं के आनन्द-कोलाहल से मुखरित हो उठी - मानो पद्म का एक बीजकोश हो, इस बीजकोश के चारों ओर मंडलाकार श्रेणीबद्ध पद्म दल हों, इस प्रकार अपने सखा नीलमणि को घेर सभी सखागण डफ बजाते, झांझ-मृदंग पर थाप दे-देकर वन के वातावरण को तुमुल ध्वनि से निनादित करते, गाते, मंडलाकार नृत्य कर रहे हैं। नीलमणि प्रियतम श्रीदाम के कंधे पर हाथ रखे हैं। परन्तु प्रत्येक शिशु को अभ्रान्त अनुभूति यही है कि मेरा नीलम मेरे ही स्कन्धदेश का सहारा लिये, मेरी ही ओर दृष्टि किये, मुझ पर ही स्नेह-सौहार्द की अजस्र धारा बहाता चल रहा है। ऐसी अवस्था में उनके आनन्द की थाह कौन पावे ? बस, इतना ही कहना संभव है, उत्फुल्ल नेत्र, वे असंख्य गोपशिशु अपने कोटिप्राणप्रतिम सखा को निहार रहे हैं और उनके नीलमणि-सखा की दृष्टि भी एक मात्र उन्हीं की ओर केन्द्रित हो रही है।

जो हो, इस प्रकार श्रीदाम, सुबल, देवप्रस्थ, वरूथप, किंकिणी, तोक, अंश, भद्रसेन, अर्जुन, वसन्त, उज्वल, मुधमंगल, मंगल, पुष्पांक, भंगुर, भृंगार, पल्लव, सन्धिक आदि सखाओं से परिवेष्टित हुए प्रियतम-प्राणसुन्दर नीलमणि विलक्षण साज-सज्जा से सजे एक ओर अपनी कटिफेंट में वंशी खौंसे तथा दूसरी ओर रंग छिड़कने की रत्न-जटित स्वर्णिम पिचकारी खौंसे, परम

सुगन्धित पुष्प-किंजल्क की अबीर और गुलाल से नभ को आच्छादित करते चले आ रहे हैं। सभी सखाओं ने अपनी कमर फेंट को ही ढ़ीली कर, फेंट के वस्त्र को ही झोले के रूप में बनाकर कमर में बाँधा हुआ है। कुछ गोपाल वृक्षों के नीचे स्तूपाकार रूप में एकत्रित पुष्प-किंजल्क अपनी पगड़ियों के वस्त्रों में, अपने उपरनों में भर-भरकर लाते हैं और सखाओं के मध्य बाँट देते हैं। सखालोग मुठ्ठी भर-भरकर इसी पुष्पपराग को वन में सर्वत्र उड़ा रहें हैं। सरोज-कुसुमों के परिमल से सुवासित पवन का संस्पर्श पाकर राशि-राशि भ्रमरावलियाँ आकृष्ट हो गयी हैं एवं गुञ्जार कर रही हैं। इन सखाओं के क्रीड़ा-कौतुक निरखते स्थान-स्थान पर वर्षावारिसे परिपूर्ण जलाशय अपने वक्षस्थल को प्रस्फुटित पद्म समूहों से आच्छादित किये हँस रहे हैं। लो, सखाओं का कौतुक देखो, वे चतुष्पादों को भी फाग खिलाने उनके अंगों में पुष्पपराग की गुलाल मलने दौड़ पड़े हैं। भला, ये हरिणियाँ, ये नीलगायें इनके हाथ थोड़े ही आने वाली हैं। और कुछ सखा तो वृक्षों की डालियों पर मरकटों की तरह फुदक-फुदक कर इन मरकटों के मुख रंजित करने का प्रयास कर रहे हैं। जलाशयों में एकत्रित अगणित जल विहंगमों का दल अतिशय मधुर कण्ठ से कूजन कर रहा है। चतुर्दिक् नव-नव-पत्र-मंडित, फल एवं पुष्पभार से अवनत हुई सघन तरुश्रेणियाँ, भ्रमर-झंकार एवं पक्षियों के सुमधुर कलरव से प्रतिनादित ये श्रेणीबद्ध वृक्षावलियाँ - सभी अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण और उनके सखाओं का आह्वान करती कह रही हैं -"अभिनन्दन ! गृह पर आये धूम मचाते अतिथियों का स्वागत है।" सचमुच सभी दृष्टियों से वन-भूमि अत्यन्त रमणीय सज उठी है।

लो ! डफ, मृदंग, झाँझ आदि के नाद के साथ ही सखाओं के "हो-हो-होरी" आदि ध्वनियों से आकृष्ट हुई सखियों का दल भी चला आया।

अहा ! सम्पूर्ण सुषमाधामरूपिणी, परमानन्द की उत्सरूपा इन वृजयुवतियों की क्या ही शोभा है ? सभी के अंग तप्त स्वर्णसदृश पिगंल-गौर वर्ण हैं। कोई पीत, कोई गुलाबी, कोई हलका बैंगनी, कोई मयूरपंखी, कोई हरिताभवर्ण के परिधान पहने हैं और सभी के अंग-अंग अत्यन्त कमनीय, सर्वथा सर्वांश में चित्तहारी सुन्दर श्रृंगारों से सुसज्जित हो रहे हैं। सबके मुख पूर्ण विकसित अरविन्द के सदृश शोभा पा रहे हैं। इधर इन सखियों के अंग अंग से, रोम-रोम से, कण-कण से जो सौरभ का पुंज विकसित हो रहा है, उससे तो वातावरण अतिशय मधुमय हो उठा है। इनके आगे-आगे प्रिया किशोरीरानी

मत्त गयंद की चाल से चल रही हैं। उनका मुखसरोज मधुर मधुपरिपूरित है। अहा, इनके प्रफुल्लित मुख-सरसिज का दर्शन कर प्रियतम श्यामसुन्दर के लोचन-चंचरीक मतवाले हो उठे हैं। अहा ! इनके मधुपान की यह लालसा अनन्त काल तक प्रतिक्षण बढ़ती ही जायेगी, कभी क्षण भर के लिये भी यह तृप्त कदापि नहीं हो पावेगी।

लो, प्रिया को देखते ही प्रियतम-प्राणवल्लभ के आकर्णविलम्बी नेत्रों में एक अभिनव मनोरम कौटिल्य का समावेश हो उठा और उन्होंने अनुपम रसमयता का परिचय देते हुए अपनी कमर से पिचकारी निकाल ली। सखाओं ने तुरंत ही उनका संकेत समझ लिया और अब तक जो उन्हें गोलाकार रूप में घेरे हुए थे, तत्क्षण ही सबने विद्युत गति से अपने को अर्द्धचन्द्राकार वृत्त में कर लिया। प्रियतम पार्श्व के ही लघु जलकुंड के निकट आ गये और उन्होंने अपनी पिचकारी रंग में पूरी भर ली।

अहा, प्रियतम के नयन-सरोजों पर राजित बंकिम-भ्रूविलास मदन के शर संधान को भी हेय बना दे रहा है। कामशर से विद्ध तो कदाचित् त्राण भी पाले, किन्तु प्राणवल्लभ-प्रियतम के भ्रकुटि-विलास की गरिमा और उसकी सम्मोहिनी शक्ति से कोई बच जाय, सर्वथा सर्वांश में असंभव ही है यह। वह तो चरणों में निरवधि दासीभाव-भावित हुई ही रह जायगी। जैसे अतनु ने पाँचों शर एक साथ छोड़ दिये हों, प्रियतम ने प्रिया के वक्ष और मुख सरोज पर रंग की वर्षा कर दी। जल-देवता वरुण निहाल हो उठे। वनश्री के अंगों-अंगों में अनन्त आनन्द की तरंगें हिलोरें ले उठीं। भूमि रोमाञ्चित हो उठी। उसके अंग-अंग में पुलक उठने लगे। अहा ! सर्वत्र धन्य-धन्य का निनाद गूँज उठा। एकत्रित सम्पूर्ण मयूरदल एक साथ नाच उठा। कोकिलाएँ गान कर उठीं। सारिकाओं ने मंगल कीर्तन करना प्रारंभ कर दिया। यद्यपि पिचकारी से जल तीव्र वेग से प्रिया की ओर प्रवाहित अवश्य हुआ था, परन्तु प्रिया के अंगों को स्पर्श करने के पूर्व तो वह तुहिन कणों के रूप में पर्यवसित हो उठा।

अहा, प्रिया के अरुणिम गोल कपोल कितने कमनीय हैं। उनके बिम्ब-विडम्बी अधर कैसे मधुमय सुधारस से परिपूरित हैं ? अहा, उनके कज्जल अनुरंजित नेत्र कैसे प्रेमामृत रसार्णववर्षी हैं ? इस पिचकारी से प्रकीर्ण जल के रूप में तो प्रियतम का परम सुहावन प्रेम-सुकोमल मन ही रसमत्त

हुआ प्रिया की ओर वेगपूर्वक धावित हुआ था, और वह तुहिनकणों की तरह अति सुकोमल रूप में रंजित कर गया, प्रिया के आनन-सरोज की शोभा को।

और लो, प्रिया की सहचरियाँ सावधान होकर प्रतिक्रमण करें, इसके पूर्व ही परम पटु नायक, प्रियतम-प्राणवल्लभ ने पुष्प-किंजल्क की गुलाल को परम सुगन्धित केसर-चूर्ण से समन्वित कर, ढ़ेर की ढ़ेर प्रकीर्ण कर दी - प्रिया की परम मनोहारिणी सुचिक्कण-कृष्ण-मिलिन्द सदृश आभावाली कुञ्चित अलकावलि पर। प्रियतम के ही वर्ण की नीले रंग की गुलाल, प्राणवल्लभ के करसरोजों से तीव्र गति से प्रकीर्ण हुई चली - एक लघु मेघ की तरह और उसने प्रथमतः एक नील आतप का निर्माण किया और तब शनैः शनैः वह बरसने लगी प्रिया की अलकावलि के जाल से निर्मित वेणी पर - इस वेणी में अतीव रमणीय रूप में गुम्फित सौरभशाली सुमनों पर। अहा ! इस गुलाल ने - इस पुष्प-किंजल्क-केसरचूर्ण ने प्रिया पर शनैः शनैः बरसते हुए किस अप्रतिम सुषमा का विस्तार किया है, कैसे विलक्षण सौरभ के आवर्त्त पर आवर्त उत्थित किये हैं, इसका तो किसी प्रिया-चरणरेणु-कृपाभावित-मति को ही किंचित् दर्शन हो जाय, तो वही अनुभव कर सकता है।

अहा ! केसर-रेणु बरस रही है। सभी सखियों एवं प्रिया की परम द्युतिमान मणिमय मुकुट चन्द्रिकाएँ इस कृष्ण-किंजल्क-वर्षा से भीग रही हैं। कंचनद्युति मुखारविन्दों की निरन्तर परिवर्द्धमान रूप-गरिमा, इस किंजल्क राशि से कृष्णमयी हुई कैसी अनुपमेय दिख रही है ? इसे भला, वाणी की कहाँ सामर्थ्य है जो चित्रित कर सके। अपने जीवन की आधार-शिला, जीवन-सार-सर्वस्वा, प्रिया एवं इन प्राणाधिदेवियों सखियों की अभी तो प्रियतम द्वारा अपने प्रतिक्षण परिवर्द्धमान अनुराग की सर्वतोमुखी रसधारा से समर्चना प्रारंभ ही हुई है। अभी तो इस समर्चना का श्रीगणेश ही हुआ है।

प्रिया के आह्लाद का पारावार नहीं रहा। उनके प्रियतम द्वारा सीमन्त पर लगाये सिन्दूर-दान की तरह ये प्रेमसौभाग्य की यशःपताकाएँ अबीर, गुलाल की अंग-संस्थानों पर बरसती धाराएँ उन्हें परमानन्द में डुबो दे रही हैं।

लो ! प्रिया के भी अनुराग की सर्वतोमुखी कल्लोलिनी उफन उठी। प्रिया के सुरम्य कमलनाल-से सुकोमल बाहु भी रत्नजटित पिचकारी से सुभूषित हो गये। अहा, सुललित मेंहदी की अति कलात्मक रचना से आवृत प्रिया के करपल्लव पिचकारी धारण कर कैसी शोभा वर्षा कर रहे हैं, इसका कोई कैसे वर्णन करे ? आजतक जितनी कलाएँ सृष्ट हुई हैं, जितनी सुन्दरता, जितनी

मधुरता और गुणराशि उपलब्ध हुई है, और होगी, उन सम्पूर्ण ललित कलाओं की निधि, गुण-गानों की राशि, प्रिया अपने प्रियतम के प्राणों का मन्थन करती उन पर केशरवर्णी परम सुवासित रस-रंग की अजस्र वर्षा करने लगी ।

अहा ! प्रिया एवं सखियों की कैसी शोभा है, अगणित रत्नावलियों एवं मुक्ताओं से गुम्फित उनका शिरोदेश श्याम चूनड़ी से विरहित हो उठा है। रत्नावलियों से गुम्फित वेणी, विमोहनकारी श्याम चूनड़ी से मुक्त हुई पीठ पर नागिन की तरह लहरा रही है। कंचुकी-परिशोभित उत्तुंग वक्षोज भी चूनड़ी से मुक्त हुए अंग-संस्थानों के मुकुट की तरह शोभा पा रहे हैं। शंख-सदृश सुघड़ कण्ठदेश और उसमें झूलते सुरम्य सुमनों के, मुक्तावलि के, मणिश्रेणी के विविध हार, करकमलों द्वारा पिचकारी से रंगवर्षा करने के कारण हिल हिल कर अपने सर्वजयी सौन्दर्य की यशःपताका फहरा रहे हैं। प्रियतम के दृग इस शोभा को निहारते-निहारते विथकित हैं। इस अभिनव अतुलनीय रूपराशि की वर्षा के साथ ही साथ अपने प्रियतम पर प्रिया द्वारा ऐसी रंग-वर्षा हो उठी कि सब सखा भीग कर तरबतर हो गये।

उनके कटिफेंट के झोलों में भरे किंजल्क, केशर के रंग इस वर्षा से बहकर उनके ही अंगों को पूर्णतया लाल, पीले रंजित कर चुके हैं। प्रेमोन्मादिनी सखियों ने सारी सखामंडली को चारों ओर से घेर लिया। चारों ओर से रंग-वर्षा, चारों ओर से ही गुलाल की धूम -- रसप्लावन ही रसप्लावन। सखागण अपने नेता श्रीकृष्ण को छोड़कर भाग खड़े हुए। प्रियतम अपना अतुल रस-पराक्रम विस्मृत कर पराजित हो गये इस होली में।

अप्रतिम सौन्दर्य-माधुर्य-सुधासिन्धु प्रियतम के हृदय में प्रिया-अनुराग की लहरें इस प्रकार उच्छलित हो रही हैं कि उनकी छवि अवर्णनीय हो रही है। कैशोर-विभूषित प्रियतम के नीलसुन्दर तन पर प्रिया एवं सखियों ने रंग-बिरंगी इतनी गुलाल डाली है कि उसका वह सच्चिन्मय नीलकलेवर इस महाभावमयी गुलाल के रंग से ढँक गया है। यद्यपि उसकी नीलमता सर्वजयी है, अतः वह उस गुलाल में से भी अपनी स्वाभाविक महारसमयी मधुरिमा और मोहकता के साथ प्रकट हो ही जाती है, असमोर्ध्व होने से वह अन्याच्छादन से पूर्णतया आच्छादित हो ही नहीं पाती, उसका त्रिभुवनमोहक सर्वजयित्व गुण अपने को सर्वोपरि रूप में व्यक्त कर ही देता है, परन्तु प्रिया द्वारा प्रक्षेपित इस महाभाव की राशि-राशि गुलाल ने उन्हें अनुरंजित नहीं कर दिया हो, सो

बात नहीं है। प्रियतम रूप-माधुर्य की धरा पर प्रियारूप-मधुरिमा का निर्झर इतना तीव्र वेग से गिरा है कि चतुर्दिक रस ही रस दृष्टिगोचर हो रहा है।

देखो तो सही। जिन अनन्त श्रीनिकेतन के रूप-सुधा-सिन्धु की एक कणिका से निसर्ग के असंख्य कामदेव सुषमा-सम्पन्न होते हैं, वे सखियों के उमड़ते यौवन-वेग से पराभूत-से हुए नीचा मुख किये खड़े है। उनकी बाँसुरी पर ललिता रानी ने अधिकर कर लिया है । प्रिया के कण्ठ पर झूलती वनमाला से विशाखासखी ने उनके हाथ बाँध दिये है। अहा ! प्रिया के सम्मुख निम्नमुख खड़े प्रियतम कैसे सुन्दर लग रहे हैं ?

उनका मयूरपिच्छ दूर अवनी पर गिर गया था जिसे एक सखी ने प्रिया के हाथ में दे दिया है। सहचरियों ने एक गोलक का निर्माण कर चतुर्दिक घेर लिया है नीलचन्द्र को सर्व ओर से। इस घेरे से दूर गोपशिशु-नन्दनन्दन के सखा, कोई किसी लताजाल की ओट से झाँक रहा है और कोई किसी वृक्ष की शाखा से अपने सखा को निहार रहा है। सब सखाओं के वस्त्र रंग से पूरे भीगे हैं तथा उनके मुख रंगबिरंगी पुष्प-केशर से अनुरंजित वानरों की तरह लग रहे हैं। सखाओं की झाँझ, मृदंग, डफ भी सखियों के हाथों में हैं।

सहसा ललितारानी अतिशय मधुर स्वर में बोल उठी -"अहो ! सर्वजयी मधुसूदन, आप में तो अप्रतिम शौर्य है। सर्वकलाविद् और सर्वविद्याविद् आपकी मति है, आप महामहिम, सर्वचातुर्यनिकेतन हैं, साथ ही सर्वसह भी हैं; फिर भी आप हम कोमलांगी ललनाओं के हाथ की पिचकारी की धार को भी नहीं सह सके। हे अशरणशरण आप अपनी वंशी की रक्षा भी नहीं कर सके।"

प्रियतम ललितारानी की वार्ता सुनकर, कुछ क्षण तो हतप्रभ रह गये। तत्पश्चात् उनकी प्रत्युत्पन्नमति प्रतिभा जाग उठी। वे गंभीर मेघध्वनि में अपनी प्रिया के मुख की ओर निहारते हुए बोल उठे -"हे मेरे प्राणों की रानी! मैं तुम्हारी अपनी से अपनी वस्तु हूँ। जब मैं किसी भी अंश में कहीं भी तुमसे पृथक् ही नहीं तो कैसी मेरी हार और कैसी मेरी विजय ? प्रिये ! फिर मैं तो नित्य ही तुमसे पराजित भी हूँ। जब मेरा मन, चित्त, प्राण और मेरी आत्मा ही तुम्हारे द्वारा जीती जाचुकी है तो मेरे इस तुच्छ कलेवर की बिसात ही क्या है ?"

"प्राणेश्वरी ! मेरी हार कोई आज की नवीन हार थोड़े ही है ? मैं तो तुम्हारी चरण-रज-कणिका पर अपना सर्वस्व नित्य न्यौछावर किये बैठा हूँ। हे

मेरी प्राणसंजीवनी ! अपनी अलकों से तुम्हारे चरण-सरोरुहों को पौंछ कर ही तो मैं सर्वजयी, सर्वसह, और असमोर्ध्व सर्वसौभाग्यशाली बनता हूँ ।"

"हे प्राणसर्वस्वे ! मैं तो तुमसे यही अति दैन्यमयी विनय कर रहा हूँ बस एक ही आशीर्वाद दें - तुम्हारी रुचि से मेरी रुचि का पार्थक्य रहे ही नहीं। तुम्हारी इच्छा ही मेरे मानस में सदा उत्थित हो, मूर्त्त हो, और चरितार्थ हो। उसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता की खोज मैं कर ही नहीं पाऊँ। कदाचित् मेरे प्रति सर्वथा प्रतिकूल व्यवस्था ही तुम्हारे द्वारा सम्पादित क्यों न हो, तब भी मुझे इसकी चिन्ता नहीं हो । हे मेरी मानसमोदिनि ! तुम्हारे परमानन्द की उत्सरूपा स्मृति ही तो मेरे जीवन की आधारशिला है वही तो एक मात्र मेरा अवलम्बन है। हे पिंगल, गौर-वर्णे ! तुम सदा ही मुझ पर विजयी होओ।

प्रियतम की ऐसी विनम्र प्रेममयी वाणी सुनकर प्रिया के भावसिन्धु में अभिनव प्रेमभाव के आवर्त उठने लगे। प्रियतम को श्रमित जान कर किशोरी के प्राणों में व्यथा का संचार हो उठा; आंखों से अजस्र अश्रुधारा बह चली। उन्होंने दौड़कर अपने प्राणरमण को अपने अंग में भर लिया।

अहा ! वहीं एक सुन्दर कुञ्ज में प्रिया ने प्रियतम को सुभग पुष्प-शय्या पर विराजित कर दिया। नीलसुन्दर की कुञ्चित उलझी कृष्णअलकावलि को अपने हाथों में लेकर वे किंचित् दोलित कर सुलझाने लगीं हैं। वनदेवी से नवीन पीताम्बर और श्रृंगार लाकर प्रिया, प्रियतम का श्रृंगार करती हैं। अञ्जलि में स्वच्छ सुभग जल ले-लेकर उनके वदन-सरोरुह और अंग-अंग का प्रक्षालन कर रही हैं। उनके घर्माक्त श्रीअंगों को पौंछती हैं। भानुराज-नन्दिनी का मन सर्वथा डूब गया है- महामरकत श्यामल अंगों की मधुरिमा में ही।

तृण-भाव

(पूज्य गुरुदेव अपने महाभावमयलीलाजगत में बहुत कालपर्यन्त तृण-भाव में रहे हैं। उनके तृण-भाव का जो भी वर्णन उन्होंने लीला-रूप में मुझे सुनाया था, वह यहाँ दिया जा रहा है। "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" के स्वाराज्य पद पर आरूढ़ पू० गुरुदेव का मन व्रजविश्व का एक तुच्छ निरीह नगण्य तृण होकर किस उच्च कोटि के दैन्य का प्रकाश करता रहा है, यह यहाँ दर्शनीय है । महाभावगत-दैन्य ही तो इस व्रजभाव का प्राणतन्तु है। इस महादैन्य की भूमि में ही प्रेम की बेलि बीजारोपित होती है, अंकुरित होकर पल्लवित होती है, एवं तब पुष्पित होकर वृहत् विकास को प्राप्त होती है। तभी उसे प्रियतम श्रीकृष्ण-रूप वृक्ष को समाच्छादित कर पाने का सौभाग्य प्राप्त होता है। यह सब अतिशय दैन्य तो मात्र महाभावगत ही है। जिसके आलिंगन में अनन्त ब्रह्माण्डों का नायक बँधा हो, जिसके प्रेम के वशीकृत हुआ वह कोटि-कोटि ब्रह्म-रुद्रादि का ईश्वर जिसके चरणरज की कामना करता हो, उसमें दीनता कैसी ? जिसके सौभाग्य की वन्दना अनन्तानन्त लक्ष्मी करतीं हैं, वह दीनहीन हो, यह सर्वथा उपहासास्पद है, परन्तु वाह रे महाभाव ! सचमुच तेरी बलिहारी है, वही प्रेम यहाँ प्रेमी को तृण बना देता है। इस का भाव-सौरभ इस लीला में ही देखते बनता है।)

मैं एक तृण हूँ

मैं एक तृण हूँ । इस व्रजवृन्दावन की भूमि में मैं प्रसूत हूँ। बस, यही मेरा परम-परमसौभाग्य है। शेष तो मैं सर्वथा निर्बल अशक्त जीव हूँ। एक ओसकण का भार भी मेरे लिये असह्य है। एक तुहिनकण भी मेरे मस्तक को भूमि-नत कर देता है, उससे आक्रान्त हुआ भी मैं खड़ा नहीं रह सकता। मैं सरक भी नहीं सकता, चलपाना तो मेरे प्रारब्ध में संभव ही नहीं है।

पावस, शरद, हेमन्त, शिशिर, ग्रीष्म एवं वसन्त- इन सभी ऋतुओं का प्रकोप सहना और उफ भी नहीं करना मेरी नियति है। जब ग्रीष्म आता है, मेरे सम्पूर्ण जीवन का वह रस ही सोख जाता है। मैं सूखकर पीला, निष्प्राणवत् हो जाता हूँ। परन्तु, मैं उससे अपनी रक्षा कर सकूँ- किसी अवगुण्ठन आच्छादन में मैं अपने मस्तक को छुपा सकूँ , मेरा ऐसा भाग्य ही नहीं है। कीट, पतंग, भृंग एवं मच्छर भी शीतल स्थानों की खोज कर उनमें छुप जाते हैं, परन्तु मैं तो अंशुमाली के उग्र प्रकोप से बचने पलायन भी नहीं कर सकता। मुझे तो उनके असंख्य किरण-बाण अपने लघु एवं सुकोमलतम तन पर सहने ही होते हैं। मेरे तन पर प्रकृति ने न तो कोई बाल दिये, न ही कोई सींग एवं कण्टक आदि। अत: किसी भी जीव से मेरी रक्षा मात्र दैववश ही होती है। जब वर्षाऋतु आती है तो रवि के प्रखरताप को तो उमड़ते सुन्दर नीलघन आच्छादित कर लेते हैं, शीतल, मन्द, बयार चलकर मुझमें प्राणों का पुन: संचार कर देती है, परन्तु जब लगातार मेघ बरसने लगते हैं उस समय सभी जीवसमुदाय अपने सिर कहीं न कहीं छुपा लेते हैं, मुझे तो अनवरत खुले आकाश के नीचे भीगते रहना पड़ता है। चतुर्दिक वर्षा जल में पृथ्वी भीग जाती है । मेरे चतुर्दिक भी पृथ्वी अतिशय नम हो जाती है। मैं पुन: हरा अवश्य हो जाता हूँ परन्तु कौन चतुष्पाद कब मुझे अपना ग्रास बना लेगा, मेरे चतुर्दिक अस्तित्व-नाश की आशंका बनी ही रहती है। मुझे तो एक छोटा सा टिड्डीशावक भी उदरस्थ कर सकता है। मेरी सुकोमल बाल को तो एक लघुत्तम कीट भी खाकर छेद सकता है। मैं तो बना ही हूँ- सबकी बुभुक्षा शान्त करने के लिये ही। कीट-पतंग दूसरे शत्रुओं से अपनी रक्षा करने के लिये ठीक मेरे जैसा रंग अपनी त्वचा में रंजित कर चुपचाप मुझे कुतरते रहते हैं। वे मुझे अन्य आक्रमणकारी शत्रुओं से अपने को बचाने के लिये अपना कवच अवश्य बनाते हैं, परन्तु मेरे अस्तित्व का स्वयं

वे- मेरे शरणागत ही मुझे अपना भोजन बनाकर नाश करते हैं। निरुपाय, अवश हुआ सब दु:ख सहकर दूसरों को तृप्त करते रहना ही मेरा स्वभाव हो गया है और मेरे माता-पिता एवं पितामह की यही मेरे लिये शिक्षा है। यही मेरा जीवन है।

परन्तु उन्हें यह शिक्षा किससे मिली है, पता है ? यह शिक्षा उन्हें मिली है उनके अन्त:करण में नित्य विराजित रहनेवाले प्रियतम नीलसुन्दर के दृगों से। उन्होंने ही मेरे पिता, पितामह एवं माता के अहम् को सर्वथा, सर्वांश में विदीर्ण कर अपने करुणासिन्धु की करुण लहरों से संगमित कर दिया, तभी उनके जीवन के अणु-अणु में सबको सुख देने का यह निराविल, एकाकी भाव जाग्रत हुआ। तभी से मेरे पिता ने उनके श्रीअंगों की नीलिमा को अपना स्वरूप बनाकर अपनाया। मैंने भी अपने अंगों को, उनकी नीलिमा और उनकी प्रिया-निकुंजेश्वरी राधा के अंगों की पीतद्युति के सम्मिश्रण से सजाकर तभी से निराविल विशुद्ध हरित् बना लिया है।

जगत् के जीवों ! कदाचित् तुम भी यह पाठ पढ़ सकते; सबके प्राण प्रियतम नीलसुन्दर को अपने हृदयों में बसाकर, बाहर-भीतर अनके रंग में रँग जाते। फिर तो तुम्हारा अस्तित्व भी विश्व के लिये अशेष मंगलकारी होता। करुणा के झौंकों में उड़ते हुए तुम भी सदा निराविल रस ही रस बरसाते होते, जगत् का ताप मिट जाता और अन्त में तुम्हारा नित्य निवास होता- नीलसुन्दर और उनकी प्रिया के नेत्रसरोजों में।

मेरा परिचय

लो ! तुम्हें मैं अपना पूरा परिचय दे देता हूँ। मेरे पिता हैं- पावसऋतु के मेघ और मेरी माता हैं- सर्वसहा धरादेवी। मेरे पिता ने मुझे अतिविलक्षण शिक्षा दी है। मेरे पिता, जब आकाश में अपनी सम्पदा-निविड़नील अम्बुदराशि को लेकर उमड़ते हैं उस समय सूर्य, चन्द्र, तारक समूह गगन तल से अन्तर्हित हो जाते हैं। उस समय वे मुझे यही शिक्षा देते हैं कि -"देख ! तेरा स्वप्रकाश परमानन्दस्वरूप इसी प्रकार सत्व, रज एवं तम से आवृत हो गया है और तू मिथ्या भ्रमवश अपने को एक लघु तृण समझ रहा है।" सहसा उनके मध्य एक तडित्-लता लहर जाती है और वे मुझे शिक्षा दे उठते हैं - "इस तडित्-लहरी-सी ही तुझमें मैं तृण हूँ"- यह भ्रमात्मक सत्व की जाग्रति है,

शेष तो तुझ में रजमय नाद का ही बोलबाला है। साथ ही तम के घन आवरण से तो तू भरा ही है। वास्तव में ही विद्युत् का, मेघगर्जन का, मेघों का ज्योतिष्क-मंडल से कोई सम्बन्ध है भी नहीं, वे उसे आवृत कर ही नहीं सकते; आवरण तो दर्शक के दृष्टिपथ पर ही रहता है । अपने स्थान पर ज्योतिष्क-मंडल जैसे प्रकाशित है ही, वैसे ही इन गुणों से शुद्ध ब्रह्मस्वरूप तुझ जीव का वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है। जीव का आवरण इन प्राकृत गुणों के द्वारा संभव ही नहीं । यह तो सर्वथा मिथ्या, अज्ञान-जन्य प्रतीति मात्र है। तू जीव तो स्वप्रकाश, परमानन्द-स्वरूप है ही। अवश्य ही, अपने ऐसे स्वरूप का भान तुझ जीव को तभी होता है जब तेरी आँखें उन सान्द्रनीलद्युति व्रजराजतनय की ओर केन्द्रित हो जाती हैं। तेरे सत्व के आलोक को नील-सुन्दर की चरण-नख-चन्द्रिका आत्मसात् कर लेती है। तेरी रज से भरी 'मैं'-'मेरे' की गर्जना उनके मधुमय कण्ठ से निस्सृत मुरली के स्वर में विलीन हो जाती है । तेरे तम की कालिमा उन निरञ्जन की नीली ज्योति में धुलकर उनके नेत्र-सरोजों का आभरण, सेवा का उपकरण बन जाती है।"

जगत् के जीवों, मेरे पिता की इस उपदेशराशि को मैंने पूर्णतया हृदयंगम कर लिया है। कदाचित् मेरे जीवन के अन्तराल से व्यक्त हुए इस संकेत को तुम सभी लोग हृदयंगम कर लेते तो सदा-सदा के लिये पूर्ण सुख-सिन्धु में निमग्न रहते।

अब मेरे पितामह अंशुमाली की विशाल हृदय की सीख को भी सुन लो। मेरी माता धरा अपनी असीमरसरूपी सम्पदा - सरिता, जलाशयों की जलरूपी संपत्ति लगातार आठ मास तक मेरे पितामह को समर्पित करती रहती है। उस समय मेरी माँ रससे लबालब परिपूरित होती है, उसके सरिता-सरोवरादि रसकोषों में रस की तरंगें उठ रही होती हैं। इसलिये वे किरणमाली उसका कुछ अंश स्वीकार कर लेते हैं। ले-लेकर वे मेरे पिता मेघ के पास, वह सम्पदा संचित करते रहते हैं। परन्तु जब ग्रीष्म के आवेग से मेरी माता धरणी, रसशून्य होने लगती है, ग्रीष्मताप से पीड़ित हो उठती है, तब वे तपनदेव तुरन्त ही वह संचित अगाध रस, वर्षा के रूप में लौटाने लगते हैं।

न्यायी, धर्मनिष्ठ राजा भी तो यही करता है। प्रजा की सम्पत्ति बढ़ जाने पर समुचित राज्यकर के रूप में ग्रहण कर, उसे अपने कोश में संचित रखता है। परन्तु जब प्रजा को उसकी आवश्यकता होती है, तब उन्मुक्त भाव से उसे लौटा देता है। प्रजा की सम्पत्ति, पुनः प्रजाजनों में ही वितरित हो जाती है।

मेरे पितामह मुझे यही शिक्षा देते हैं। "मेरे प्यारे वत्स ! लेना होता ही है, देने के लिये। तुमने जो कुछ भी रस, हरीतिमा भूमि से पायी है उसे उसी भूमि से उत्पन्न कीटराशि को खाने दो, उन्हें अपने आपको समर्पित कर दो। ये विशालकाय व्रजराज की गौएँ यदि तुम्हारे अस्तित्व को भी चर जावें, पूरा का पूरा चबा जायें, तो भी चिन्ताकुल मत होना, अपने को निरर्थक मत समझना। तुम अपने अस्तित्व से उनमें दुग्धरूप अमृत के निर्माण में हेतु बन जाओगे, और वह दूध यदि नन्दनन्दन नीलसुन्दर के अधरों से लगकर उनकी क्षुधा-निवृत्ति की, कहीं क्षणिक से सुख की भी सम्पदा बन गया, अथवा उन्हें क्षणिक तृप्ति भी दे गया तो तुम्हारा होना ही विश्व में परम सार्थक हो जायगा।"

और हे जगत् के जीवों ! तुम्हें यह रहस्य भी बता दे रहा हूँ कि भुवनभास्कर ने भी यह शिक्षा जो मुझे दी है वह पायी है व्रजेन्द्रतनय प्रियतम नीलमणि से ही । मेरे प्रियतम नीलमणि अपने भक्तों से, सखियों से, सखाओं से, मातृवर्ग की सखियों से, गौओं से, पिता नन्दजी से, ब्राह्मण-ऋषियों-मुनियों से लेतेसे केवल दिखते ही हैं। किन्तु कहाँ अपने समीप रखते हैं वे किसी के द्वारा कुछ भी दी हुई वस्तु को ? कितना सुन्दर बनाकर और कैसी अपरिसीम मात्रा में परिवर्द्धित करके वे अर्पित-वस्तु को लौटा देते हैं, इसे देखना चाहो-तो देख लो, उनके चारु-चरणों में न्यौछावर हुए प्रत्येक भक्त के जीवन में। अतएव, चिन्तित मत होना; अपितु सदा अपना अहोभाग्य समझना, यदि नीलसुन्दर अथवा उनके इस व्रजराज्य का कोई भी जन्तु तुम्हारी कोई भी वस्तु ले ले। अप्रतिम सुन्दर एवं अनन्त बनकर तुम्हारी वस्तु तुम्हारे पास ही लौट आयेगी, भला। मेरे पितामह का यह सन्देश मैंने तो अपने जीवन में शत-प्रतिशत ग्रहण कर लिया है।

मेरे पितामह की इसी शिक्षा से अभिभूत हुए, मेरे पिता महान् मेघ निरन्तर बरसते रहते हैं। क्यों, जानते हो ? अच्छा सुनो- इन्होंने अपनी विद्युत् की आँखों से दूसरों की व्यथा-व्याकुलता देख ली। पवनरूपी दया ने इन्हें झकझोर दिया। उस दया के प्रचण्ड वेग से परिचालित होकर ये उड-उड़कर आ गये। देखो ! इन्होंने अपने हृदय का जलरूपी सम्पूर्ण रस उँडेल दिया, विश्व को आप्यायित कर दिया। सर्वथा दयाशील सत्पुरुषों का स्वभाव अपना लिया मेरे पिता ने और अपने आचरण से यही शिक्षा मुझे दी है। "जीवों का दुःख देखते ही कृपा परवश हो उठो। अपना सर्वस्व देकर प्राण

न्यौछावर करके भी पीड़ितों को सुख-सुविधा का दान कर दो। परन्तु मेरे पिता को भी यह करुणत्व की शिक्षा मिली है मेरे प्रियतम नीलसुन्दर के दृगों से झर कर ही। मेरे पिता- इन महा मेघों ने मेरे प्राणधन नीलमणि के अंगों के वर्ण को इसीलिये अपना लिया है। बाहर-भीतर वे रंग गये हैं- उन्हीं के रंग में। तभी तो वे बरसते हैं दूसरों के ताप-निवारण के लिये और बरसते-बरसते ये विलीन हो जायेंगे- शरत्कालीन जलाशयों में विकसित सुन्दरातिसुन्दर सरसिज-कर्णिका की सुषमा धारण करने वाले मेरे प्रियतम नीलमणि के नयनों में ही।

और मेरी माता धरा ने भी मुझे यही शिक्षा दी है :-"बेटे ! तेरे शतसहस्र जन्मों का अशेष पुण्य उदय हुआ है जो तुझे यह नीलमणि की लीला-स्थली में तृणरूप में ही सही, जन्म तो मिला। अब तो कभी न कभी, तुम्हें अपने प्राणनिकेत के प्रत्यक्ष दर्शन का भी अनिर्वचनीय सुदुर्लभ सौभाग्य प्राप्त होगा ही। यदि यह सौभाग्य तुझे प्राप्त नहीं होना होता तो तेरा इस व्रजजगत से कोई सम्बन्ध हो ही नहीं पाता। अब तू आनन्द से निरन्तर पुलकित हुआ नृत्य करते रहना, अपने सौभाग्य पर थिरकते रहना। देख, तू अनन्त काल से न जाने किन-किन देहों में अध्यस्त रहकर, इन देहों से सम्बद्ध अनन्त गृह-परिवार बनाता हुआ उनकी वस्तुओं में अपने-पराये की भावना से सतत भावित रहकर कहाँ, कहाँ बहता रहा है, तूने इस तमोमयी जीवन-धारा में बहते हुए न जाने कितनी कोटि-कोटि नृशंस कर्मराशियों का निर्माण किया है, फिर भी तुझे करुणावरुणालय व्रजराजनन्दन की चरणसरोजों की शीतल शंतम कृपा ने इस व्रजभूमि में प्रसव देकर अपनी छाया का दान दे दिया- यह तो अहोभाग्य ही है। अत: अब अपनी आयु का क्षण-क्षण प्रियतम श्रीकृष्ण के चारुचरणों की रज की प्राप्ति की आशा-उत्कण्ठा में ही व्यतीत कर देना। अपने नेत्रों में अति दैन्यभरी उत्कण्ठा और विप्रलंभ भरे रखना और अश्रुधारा प्रवाहित करते हुए उनके पादपद्मों की समर्चना करते रहना। भले ही तेरे पास कोई भी अर्चन सामग्री न हो, तू अपने भावों की ऊर्मियों से ही अनेकानेक उपचारों का सृजन कर लेना और अपनी भावना में मूर्त्त उनसे व्रजेन्द्रकुलचन्द्र की समर्चना सम्पन्न करते रहना। अति अनुराग भरे हृदय से अपने देवाधिदेव की परिक्रमा करते रहना। इस प्रकार अपने जीवन को प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर की भक्तिरससुधा से अमृतवत् मधुर बनाये रखना।"

इस शिक्षा को शत-प्रतिशत ग्रहण कर, मैं तुच्छ तृण सदा प्रतीक्षा करता रहता था :- "कभी न कभी तो अघटन-घटना-पटीयसी मेरे प्राणवल्लभ की कृपाशक्ति मेरे प्रियतम नीलसुन्दर की गति मेरी दिशा की ओर कर देंगी और वे गोचारण करते हुए पधार आवेंगे मेरे निकट की पगडंडी से और मुझे उनके चरणसरोरुहों की रेणु का स्पर्श तो प्राप्त हो ही जायगा।

हे जगत् के जीवों ! अब यदि तुम मेरी जीवन गाथा सुनने को ही समुत्सुक हो उठे हो, तो सुन लो। बहुत काल तक उनकी गति इधर मेरी दिशा की ओर नहीं हुई, तो नहीं ही हुई। प्रियतम नीलमणि के अदर्शन की ज्वाला ने मेरे सम्पूर्ण हृदयरस को सोख लिया। मेरी हरीतिमा समाप्त हो गयी। हाय ! प्राणाराम व्रजेन्द्रनन्दन आज भी नहीं आये, दूसरे दिन भी नहीं पधारे, तीसरे दिन, चौथे दिन, इस प्रकार मास, वर्ष व्यतीत होते गये । एक वर्ष दो वर्ष, जब उनकी वंशीध्वनि भी कानन के इस अंश में, जहाँ मैं स्थित था, प्रतिध्विनित नहीं हुई तो फिर मेरी हरीतिमा तो विलुप्त होनी ही थी। मैं ही नहीं, कानन के इस भाग के सम्पूर्ण जलस्रोत ही शुष्कप्राय हो गये थे। स्रोत किस उद्देश्य से प्रसरित हों ? उनके हृदय की ऊर्मियाँ किसके चरणप्रान्त में न्यौछावर हों ? वे ही क्या- वल्लरियों ने भी पुष्पित होना स्थगित कर दिया, मानो वे वन्ध्या ही हो गयी थीं। आम्रों में मञ्जरियाँ नहीं आयीं। सारे भ्रमर तो नन्दनन्दन जिधर गति करें उधर ही धावित हो उठे थे। अतः निम्ब, शाल, तमाल, पिप्पल, जामुन, आम्र, बेल, सब के सब निम्न मुख-लटकाये सूखने लगे थे।

पावस की घटायें, अम्बुराशि दान करने आतीं परन्तु वह अम्बुराशि प्रियतम-प्राणवल्लभ के दर्शन के बिना जलनिधि के खारे जल के समान, प्राणों में उल्लास और जीवन्तता नहीं दे पाती। दिन-रात अजस्र अश्रुप्रवाह करते-करते थके, नयन भी प्राणहीन निस्पन्द हो गये थे। हृदय क्या था, विषाद एवं वेदना की धक्-धक् जलने वाली भट्टी हो गया था। सत्य ही है, त्रिताप-संतप्त जीवन इन नवनीरद व्रजेन्द्रनन्दन के सम्पर्क में आये बिना कैसे शीतल होना संभव है ? क्या मूल से उच्छेद कर दिये गये किसी भी वृक्ष को अथाह वर्षा भी हरा कर सकती है ? कदापि नहीं। फिर मेरा मूल तो प्राणनिकेत से मेरी मिलनाशा थी, वही मिलनाशा ही जब समाप्तप्राय हो रही

थी, तो मुझमें जीवन एवं चेतना का प्रवाह कैसे तरंगित हो पाता ? परन्तु, इस अथाह दुखोदधि में पड़े रह कर भी मेरे चित्त में अविराम अंकित थी- वह मेरे प्राणनिकेत की इन्द्रनीलद्युति छवि। जो नष्ट हुआ वह तो सबका सभी बाहर का ही था। उस सच्चिन्मयी नीलिमा में फँसे मेरे प्राण वहीं उन्हीं चरणकमलों में विजड़ित रहे। वे एक पद भी अपने लक्ष्य से इधर-उधर नहीं हुए। फिर क्या था नीलसुन्दर ने एक दिवस कृपा कर ही दी। वे चले आये वन के इस भू-भाग की ओर ही। उनके आगमन की पूर्व सूचना, ज्यों ही समीर ने उनकी अंगगंध सबकी नासिका में भर कर दी, सम्पूर्ण वन में अपरिसीम उल्लास का संचार हो उठा। और वह महासौभाग्यवान क्षण भी. उपस्थित हो ही गया जब उनके श्रीअंगों की श्यामल कान्ति मेरे नेत्रों में भी पूरित हो गयी। फिर तो सौभाग्य का अथाह, अनन्त कोष ही मेरे लिये खुल गया। वेणु की लहरी श्रवणपथ से हृदय को सिक्त कर उठी।

प्रिय दर्शन एवं ब्रज-रज-कृपा

उस दिवस तो मेरी माता धरा भी कैसी शोभामयी हो उठी थी। मेरी माता के अंग-अंग में आनन्द के इतने पुलक उठे कि हरित् तृणों का अम्बार लग गया। वह सुख में अतिशय हरी हो गयी। प्रियतम प्राणनिकेत के रागवश यूथ की यूथ वीरबहूटियाँ उसके रोम-रोम में प्रसूत हो गयीं। बरसाती छत्ते असंख्य वितान से बनकर उसके अंग-अंग में मुक्तामालाओं की तरह सुभूषित हो गये। इसप्रकार सुखसौभाग्य से हरी, प्रीतिराग से लाल और मुक्तामणियों के श्रृंगार से सजी श्वेत- मेरी माता धरणी की निराली छटा देखकर मैं निहाल हो गया। विश्वपति व्रजेन्द्रनन्दन के आगमन और मिलन पर तो साजसज्जा होनी ही चाहिये थी; उनके स्वागत में ही यदि अनन्तश्री प्रकाशित नहीं होंगी तो फिर भला कब होंगी ?

मैंने चाहा, मैं भी अपना श्रृंगार करूँ। परन्तु मुझे कौन वस्त्र देता। निर्वस्त्र रहना तो मेरी नियति ही थी। परन्तु धन्य हो कृपा की। वह जब किसी पर भी होती है जो अजस्र ही होती है, अमर्यादित ही होती है । कलिन्दनन्दिनी में रस की ऊँची से ऊँची तरंगे उठने लगीं। आनन्दातिरेक से उसके श्वास फूल रहे थे, बड़ी-बड़ी लहरें उठने लगीं, उसमें। यमुना मेरे नीलमणि के चरणसरोरुहों का पराग बटोरने लगी। पावस ने भी अपने

प्लावन से उन्मुक्त-हस्त राशि-राशि रजकण रविनन्दिनी को समर्पित कर दिये। मर्यादा तोड़ कर वह उमड़-उमड़ कर इस परागराशि का वितरण भी करने लगीं। तट की सीमायें तोड़कर जब यमुना उमड़ी तो एक बार तो ऐसा अनुभव होने लगा मानो उसका जलप्रवाह मेरे अस्तित्व को ही समूलत: उखाड़ फैंकेगा, परन्तु हुआ सर्वथा उसके विपरीत ही। उस तरणितनया के रसप्लावन ने मुझे उस निधि से श्रृंगारित कर दिया जिसके लिये पितामह ब्रह्मा और भगवान् रुद्र भी तरसते रहते हैं। कानन की उन पगडंडियों की धूलि जिन पर प्रिया किशोरीरानी और उनकी प्राणसारसर्वस्वा सखियाँ चरण रखती हैं, रासस्थली की वह पुलिन-सैकत जिस पर महारास होता है, सभी लीलास्थलियों की रज--जहाँ अपने प्रियतम श्यामसुन्दर से उनकी प्रेमिका गोपियों का प्रेमविवश मिलन हुआ है ; वह आनन्द-विवश हृदय एवं हृदय का सम्पूर्ण उच्छ्वसित रस जहाँ-जहाँ जिन कुंजस्थलियों में निपतित हुआ है, उन-उन बिहारस्थलियों की रजसे उन विशाल रसतरंगिणी की लहरों ने मुझे आपातत: श्रृंगारित कर दिया। व्रजपुरवासियों की, वृषभानुबाबा की, महात्मा नन्दराय की, घनवात्सल्य मूर्त्ति यशोदारानी की, मैया कीर्तिदा की, गोप-शिशुओं की, व्रजांगनाओं के चरण-पद्मों का पराग जो भीष्म, नारद , शुक, सनकादि, ब्रह्मा एवं भगवान रुद्र के लिये भी अप्राप्य है, उस रजकीच से, रसतरंगिणी यमुना के उन्मत्त प्रवाह ने मुझे आपातत: सान दिया।

हे जगत् के जीवो ! यदि तुम समझ सकते- इस व्रजरज की महिमा को, तो तुम्हें भान होता कि वह मेरा सौभाग्य कैसा था ? कितनी अचिन्त्य कृपाराशि मुझ पर उस क्षण बरसी थी, उस कृपाराशि से मेरा रोम-रोम सन गया था। किन्तु तुम्हारा मन तो कामना, वासनाओं की कीच से सना है। तुम्हारे नेत्रों पर बना है- इनका ही घना आवरण । अत: तुम कैसे हृदयंगम कर सकोगे इस अप्राकृत दिव्यातिदिव्य आनन्द को ? एक अप्रतिम परमानन्द -सिन्धु उच्छलित हो उठा; मेरे हृद्देश में। उस क्षण कितना भावविह्वल हो उठा था मै--इसे अचिन्त्य सौभाग्यवश कोई देख भले ले; वाग्वादिनी तो इसका एक अल्प सा अंश भी चित्रण करने से रही। बस, स्थूल शब्दों में इतना ही बता दे रहा हूँ। रस-तरंगिणी द्वारा निक्षिप्त, उस रसकीच का मेरे अंगों से संस्पर्श होते ही उस मृदुल, सुकोमल रज के अन्तराल से तत्क्षण ही महाजलधरतुल्य एक प्रकाण्ड विग्रह का आविर्भाव हुआ।उस विग्रह के हृदय में तडिल्लता-सी परमसुन्दरी उसकी प्रिया भी उससे आलिंगित, आबद्ध थी। अहा!

उस नील-पीत छटा से मेरा सम्पूर्ण दृश्य सदा-सदा के लिये आप्लावित हो गया। इतना ही नहीं, वह नीलपीतद्युति सुभग विराट, मेरे लिये एक मधुर सरस पानीय भी बन गया। और वह पानीय मेरी रसना से, नेत्रों से, नासाछिद्रों से, श्रवणेन्द्रियों से, उन-उनका विषय बनकर मेरे हृदयस्थल में भर उठा। व्रजेन्द्रनन्दन एवं उनकी प्रिया के दर्शन से मेरा हृद्देश परिपूर्ण रसमय हो गया। एक अत्यन्त अधम और तुच्छातितुच्छ, सर्वथा उपेक्षणीय तृण पर भी अपनी कृपा का ऐसा अचिन्त्यदान व्रजेन्द्रनन्दन दे सकते हैं, यह प्रत्यक्ष मेरे सम्मुख हो रहा था। मेरे अपलक नेत्र एक क्षण केन्द्रित होते उनके रासबिहारी स्वरूप पर। अहा ! कैसे अप्रतिम, अरुणिम उनके चरणारविन्द हैं ? नृत्य के तालबन्ध का एक विचित्र-सा कम्पन उनमें भर आया है। समस्त कलाओं की आदिगुरु गोपियाँ उनको घेरे गोलाकार खड़ी थीं। एक प्राकृत नट भी अपनी कला का प्रदर्शन करने जाकर, अपने कौशल का परिचय देकर, विविध तालबन्धों से दर्शकों को मुग्ध कर देता है, फिर जहाँ सकलकलानिधि व्रजराजनन्दन हों और संग में उनकी अखिल कलाप्रवर्तिका प्रिया एवं सखियाँ, यमुना की स्वच्छ, शुभ्र रजतसैकत राशि को अपना रंगस्थल बनाकर महारास नृत्य करें, उस शोभा का कौन तो वर्णन करे ? देववृन्द के आनन्द का पार नहीं। आकाश में पूर्ण शरच्चन्द्र की चाँदनी पारावारविहीन अमृतवर्षा करने लगी। जिनकी चरणसेविका मायानटी के नियंत्रण में अनन्त ब्रह्माण्ड सृष्ट होकर निरन्तर नृत्य कर रहे हैं, जो ब्रह्माण्ड के प्रत्येक क्षुद्रतम धूलिकण से आरंभकर, अतिशय महान् सुमेरु-पर्यन्त जड़वर्ग एवं कीटाणु से लेकर ब्रह्मा-पर्यन्त चेतन समुदाय- सबको अनवरत नृत्य करा रहे हैं, वे एक अति नगण्य मुझ तुच्छ तृण के सम्मुख नृत्य कर रहे हैं, अपने सौभाग्य पर मुझे स्वयं को ही ईर्ष्या होने लगी। अहा, उनके रासोन्माद का क्या वर्णन करूँ, उन्हें न तो वीणा-झंकृति की और ना ही मृदंग आदि के ताल की सहायता की आवश्यकता थी। वे तो अपनी प्रिया के साथ मंच पर उतर आये और अभिनव प्रीतिमुद्राओं में उनके अंग थिरकने लगे।

महारास दर्शन

उनके अधरों पर लगी वंशी का निनाद दिगदिगन्त को गुँजाने लगा। उनकी तदीय जन-विद्याधरियाँ असंख्य वीणायें ले-लेकर झंकृत करने लगीं,

परन्तु उनके तालबन्ध एवं जगन्मोहक नृत्यगति को वे वीणाध्वनि में संगत नहीं कर सकीं। वादनकुशल तदीय भक्त गन्धर्वतुम्बुरु आदि मृदंग पर थाप देने की चेष्टा कर रहे थे परन्तु उनकी ताल पर वे सब कुछ भी बजाने में समर्थ नहीं हो पा रहे थे। एक-एक विद्याधरी, एक-एक गन्धर्वपत्नी मंच पर उतरीं परन्तु लज्जित होकर मुख छिपाकर पलायन कर गयीं। आकाश भक्त-देवअप्सराओं के विमानों से भर गया, परन्तु सब मोहित, लज्जित एवं चकित थीं। अहा, गोपियों का क्या सुरीला मधुमय कंठ था ? साक्षात् राग-रागिनी मूर्त्त होकर उनके कंठ में आसीन होने का सौभाग्य पाने को आतुर थीं, परन्तु उनके स्वर की मधुरिमा में वे डूबीं समाधिस्थ हो जाती थीं। बस, कैसे कहूँ- क्या कहूँ, चतुर्दिक आनन्दमयी मधुरिमा, और सौन्दर्य का उद्दाम उच्छलन हो रहा था। गन्धर्व, सिद्ध, सुर, चारण सब नारीभाव को प्राप्त हुए रसमूर्च्छित थे। उनके ताल-स्वर का साथ देने में जब ये सभी असफल हो गये तो वे नन्दनकानन से मन्दार, पारिजात आदि पुष्पों को एकत्रित कर अपने विमानों से सभी गोपांगनाओं और श्यामसुन्दर पर वर्षा करने लगे। मैं उन सबके प्रेम-भाव से परिपूर्ण मुखों की शोभा देख रहा था। कुसुमों से अपने दुकूल भर-भर कर वे विमानों से झुक-झुक कर उन्हे नन्दनन्दन पर उँडेल रहे थे। प्रिया-प्रियतम के चरणों में कुसुमों की अविरल धारा बरस रही थी। व्रजेन्द्रनन्दन का माहात्म्य-कीर्तन करते हुए सिद्धगण, हरिचन्दन, कुंकुमादि दिव्य, सौरभमय विविध चूर्णों के उपहार बिखेर रहे थे। समस्त दिशायें आमोदित थीं। सभी अपना सर्वस्व -- नृत्यरत प्रिया-प्रियतम पर न्यौछावर करना चाह रहे थे।

लो, अब तो इनका नृत्य और भी तीव्रगति पकड़ लेता है। विलक्षण चमत्कार घटित हो रहा है। एक-एक सखी अपने साथ नीलसुन्दर प्रियतम को नृत्य करता देख रही है। असंख्य सखियों के साथ असंख्य रूप धारण किये प्रियतम, प्रत्येक सखी का हाथ पकड़े, नृत्य करने जा रहे हैं; सब कलायें कुण्ठित हो रही हैं; सम्पूर्ण रागिनियाँ हतप्रभ हैं; सारे राग लज्जित हैं।

रासनृत्य का भी एक शास्त्र है; उसके निर्धारित नियम हैं। गति-विन्यास-कौशल तो कोई अपेक्षाकृत एक दूसरे से अधिक भले ही प्रदर्शित कर दे, दर्शकों के हृत्तारों को कोई असामान्य रूप से झंकृत कर पाने की योग्यता भले ही रख ले, किन्तु प्रत्येक नर्तक अपनी परम्परा की सीमा में ही रहता है। कभी उसका अतिक्रमण नहीं करता। नृत्य-विशेष में जो उसकी

स्वतंत्रता रहती है अथवा एक मौलिकता का भान, जो वह अपने दर्शकों को कराता है, वह भी नृत्यकला की एक नियमगत वस्तु ही होती है। परन्तु यहाँ तो नन्दनन्दन सब परम्पराओं को तोड़कर, सभी सीमाओं के मस्तक पर 'थेई', 'थेई' की झंकार करते हुए सर्वथा स्वकल्पित गति से ही नृत्य करने लगते हैं। परन्तु आश्चर्य है, प्रिया किशोरीरानी और उनकी सखियाँ उनकी सम्पूर्ण कुशलता और गतिविन्यास को जैसे पहले से ही जानती हों, उनके साथ तो पग मिलाती ही हैं, उनसे भी अत्यधिक मनोहर और अत्यंत मोहक गति एंव लय का प्रकाश कर जाती हैं। बिचारे देववृन्दों ने कब देखा है - ऐसा प्राणोन्मादी प्रीति-नृत्य ?

विचित्र भूषण-वसनविभूषित असंख्य गोपियाँ हैं, नहीं, नहीं सौन्दर्यसिन्धु की असंख्य ऊर्मियाँ ही मानो घनीभूत हो गयी हैं, और इन एक-एक गोपी के साथ, उनके नायक नन्दनन्दन की क्या ही शोभा है ? मानो कोटि चन्द्र एकत्र हुए एकसाथ सुधा की वर्षा कर रहे हों, और भीग रहा है - एक अप्रतिम सुन्दर, सहस्रदल नील कुमुद-अपार सौन्दर्यराशि को अपने परम सुन्दर दलों में संपुटित किये।

अहा ! इस रासस्थली का भी क्या वर्णन किया जाय ? कुछ भी कह नहीं सकता। इस एकान्त निर्जन रसतरंगिणी के सैकत तट पर कौन ऐसी त्रैलोक्य-चमत्कारी पुरी का निर्माण कर देगा ? किसकी सामर्थ्य है भला ऐसी रंगस्थली निर्माण कर देने की ? यह रसरंगस्थली चारों ओर से असंख्य कदली स्तंभों से घिरी है। परन्तु कदली स्तंभ भी परम चमत्कारी हैं। ये प्राकृतिक कदली हैं कि अप्राकृत विलक्षण यंत्रमय रत्नमयी कृतियाँ, कुछ भी नहीं कह सकता। मैं तो बस, विस्फारित-नेत्र इस शोभा को देख ही सकता था। मेरी बुद्धि सर्वथा हतप्रभ थी। प्राण स्पन्दनरहित और मन अतिशय शान्त-प्रशान्त।

मानो अनन्त राका-शशियों के प्रकाश में इस रासपुरी की शोभा जगमग-जगमग कर रही थी। शरदच्चन्द्र एक ही था, परन्तु उसका प्रकाश सहस्रों रविरश्मियों को हतप्रभ कर देने वाला था। सहस्त्रों रत्नमय कदली स्तंभ इस रासमण्डल को घेरे थे। प्रत्येक कदली स्तंभ पर रत्नमय रत्नघट था और ध्वजा फहरा रही थी। ये शोभा की खान कदलीवृक्ष अति उन्नत मस्तक किये थे। इनके विशाल आकार के पत्ते बन्दनवारों की तरह परस्पर एक दूसरे से जुड़े थे। इसके पश्चात् पुष्पित कदम्बवृक्षों की श्रेणी थी। सभी वृक्षों पर रत्नमय चमकते पुष्प खिले थे। वृक्षों पर विशाल पुष्पवितान तना

था। यह पुष्पवितान सहस्त्रों योजन विस्तृत था। तभी न, कोटि-कोटि गोपांगनाओं का अपने प्रियतम श्यामसुन्दर के संग नृत्यविलास हो रहा था। और इन गोपांगनाओं का वेष भी परम विलक्षण था। किसी ने पैरों के आभूषण तो कानों में लटका लिये थे और कानों के आभूषण पैरों में पहन लिये थे। लो, यह नथ जो नाक में पहनने का था इसको शिरोभूषण बना लिया था और शिरोभूषण को नाक में बाँध लिया था। अहा ! इन कदम्ब वृक्षों के तले प्रियतम इनको समझा-समझाकर कितने प्यार से इनका यथोचित श्रृंगार करते हैं। इन्हें तो अपने शरीर का कुछ भी भान नहीं है। अरे ! शरीर का भान ही रहे तो फिर प्रेम ही कहाँ ? सभी गोपियाँ अपने प्रिय की स्मृति में मतवाली हैं। अहा ! किस उत्साह से प्राणवल्लभ कोटि-कोटि रूप रखकर सभी सखियों का समुचित श्रृंगार कर रहे हैं ? अपने असीम स्नेह-परिपूरित करों से इन गोपियों के कंचनद्युति अंगों में प्रियतम यथायोग्य वस्त्राभूषण धारण कराने की चेष्टा कर रहे हैं, परन्तु उनके नेत्र प्रेमवश छल-छल करने लगते हैं। गोपियों का, उनके प्रेम में तन, मन एवं सर्व बाह्य चेतना खोकर अस्तव्यस्त भाग कर आना और श्रृंगार में इस प्रकार ऊटपटांग वस्त्र पहन लेना, कहीं का श्रृंगार कहीं धारण कर लेना--यह सब देखकर प्रियतम प्रेमतन्मय हो उठते हैं। वे एक क्षण तो अपनी प्रियाओं के मुखचन्द्र से झरती, प्रेम-सौन्दर्य-सुधा का पान कर तल्लीन हो उठते हैं, परन्तु सहसा उनके प्रणयसिन्धु में एक भावावर्त उठता है। मेरी प्राणप्रिया, राधा नित्य-नव-सुन्दरी है, क्षण-क्षण में उसका रूप-लावण्य परिवर्द्धित होता है, और इस शरच्चन्द्र ज्योत्स्ना में यदि इसे मैंने सर्वश्रृंगार-समन्वित कर दिया तो औरों की तो क्या, कदाचित् मेरी ही दृष्टि इसे नहीं लग जाय; अतः प्रियतम अपनी प्रिया को सजाकर भी पुनः वैसे ही रहने देते हैं। परन्तु फिर भी प्रियतम के हृदय का स्पन्दन शान्त नहीं होता । प्रिया का सौन्दर्य इतना असमोर्ध्व है कि वह ऊटपटांग आभूषणों में भी परमातिपरम सुन्दर प्रतीत होने लगती हैं।

धन्य हैं, ये गोपियां जो युग-युग से वृजेन्द्रनन्दन को अपना मन, प्राण समर्पित कर चुकी थीं। अहा ! अनन्त जन्मों-जन्मों से ये प्राणों की उत्कण्ठा लिये अपने प्रियतम की प्रतीक्षा कर रही थीं, वे उनके चिरजीवन के आराध्य, प्राणाधार आज इनके अपने सम्मुख ही विराजित हैं -- यह अनुभव करतीं वे

कितनी हर्षमयी हो उठीं हैं ? प्रियतम भी इनके प्रति कैसा निर्मल अनुराग प्रकट कर रहे हैं ?

देखो, देखो ! ललिताराणी के पादसरोजों को, प्रियतम ने अपने अञ्जलि-पुट में ही धारण कर रखा है। इनके अरुण चरणों में लगी धूलि को, धूलिकणों को ये अपनी चूड़ा के खुले केशों से सम्मार्जित कर रहे हैं। अहा ! प्रेम में भरे प्रियतम क्या उच्चारण कर रहे हैं - "अरी, गोपियों ! कितनी महिमामयी है तुम्हारे श्रीचरणों की धूलि ? जो, इस परम दुर्लभ धूलि की एक कणिका भी प्राप्त कर लेता है, उसके मन को तो जरा आदि दोषों से रहित एक मन्वन्तर काल तक स्वर्ग-सुख की भोगने की कामना भी संस्पर्श कर नहीं पाती। इतना ही नहीं, ब्रह्मपद से भी श्रेष्ठ योगसिद्धियों और उनसे भी श्रेष्ठ जन्म-मृत्यु-विहीन मोक्ष तक को भी वह काकविष्ठावत् हेय एवं घृण्य समझने लगता है। अरी मेरी प्रियाओं ! क्या ही आश्चर्य है कि इस चरणरज को मैं बिना किसी प्रयास के ही प्राप्त कर रहा हूँ ? अहा, मेरा कैसा सौभाग्य है ?"

इस प्रकार, गोपियों के, ललिता के, विशाखा के, चित्रा, चम्पकलता और इन्दुलेखा के चरणसरोजों की रज को अपनी कुन्तलराशि से झाड़ने की क्रिया देख-देखकर अन्तरिक्ष के वे सिद्ध, गन्धर्व, देवगण सचकित विस्फारित नेत्र देखते रह जाते हैं।

परन्तु यह क्या, कुछ गोपांगनाओं में प्राण-प्रियतम की यह प्रेमपरवशता सौभगमद की जाग्रति कर देती है। बस, श्री कृष्ण वहीं अन्तर्द्धान हो जाते हैं। फिर तो, अबतक जो वनस्थली आनन्द-कोलाहल से मुखरित हो रही थी, वहाँ श्मशान की-सी गम्भीर नीरवता छा जाती है। अपने प्रियतम को न पाकर एक बार तो सभी गोपियाँ अतिशय संत्रस्त हो उठती हैं। वे जोर-जोर से रुदन करने लगती हैं।

अर्न्तधान हो जाना

हाय ! उनकी विलाप-क्रिया ऐसी करुण होती है कि मुझ हृदयहीन, भावहीन शुष्क तृण का भी हृदय विगलित हो, द्रवित होने लग जाता है। किसी के ध्यान में जब सब वस्तुस्थिति आती है तो वह कहती है - "बहिनों ! इस प्रकार इस निर्जन एकान्त स्थान पर बैठकर रोने से क्या होगा ? उठो ! यह विषाद छोड़ो। अभी तक तो निश्चय ही प्रियतम हम लोगों से अधिक दूर नहीं गये होंगे, अत: हम उनका यहीं इन वनकुंजों में अनुसंधान तो करें।"

यह बात पूरी भी नहीं हो पाती कि दूसरी सखी अपनी विशेषज्ञता की छाप-सी डालते हुए कहने लगती है - "देखो बहिनों ! उनको ढूँढ़ों भले ही, परन्तु ढूँढ़ने से कहीं वे कंटकाकीर्ण वनपथ में प्रवेश हो गये और उनके सुकोमलतम अंगों में कंटक लग गये तो, उस व्यथा की बात सर्वोपरि विचारणीय हो जायगी। इस तथ्य को प्रधानता देते हुए ही तुम लोग कोई निर्णय लेना ।"

तीसरी, जो अपने को सर्वाधिक बुद्धिमान मानती है, कह उठती है - "अरी ! यह सघन कान्तार तो पारावारविहीन है, उनके चरणचिन्ह तो ढूँढ़ो। इस सैकत में से तो एक लघु-से-लघु पिपीलिका भी अपने चरणांकन किये बिना नहीं जा सकती। बस, सखी के इतना कहते ही सभी सखियाँ समुज्ज्वल चन्द्र-ज्योत्स्ना में अपने प्रियतम के चरणचिन्ह ढूँढ़ने निकल पड़ती हैं।

वन की क्या ही शोभा हो रही है। गोपियाँ रजतसैकत में अपनी ओढ़नियों में झुक-झुककर चरणचिन्हों को ढूँढ़ती हुई, ऐसी प्रतीत हो रही हैं मानो श्वेत, हरित्, पाटल, पाण्डुर, पीत एवं श्यामवर्ण के विमान नभ से उतर आये हों। गोपियाँ हतप्रभ हो रही हैं,- उस सैकत पर तो उनके प्रियतम प्राणवल्लभ के असंख्य नृत्यरत चरण चिन्ह अंकित हैं। अब वे उनके पलायन की कौन दिशा निश्चित करें ? अहा, गोपियों के नूपुर एवं उनकी कटि-किंकिणी की झंकार इतनी मनोहारी है कि सारा तट ही विलक्षण सुरीले नाद से भर गया है। ऐसा अनुभव होता है मानो वाग्वादिनी असंख्य रूपों में वीणा झंकृत कर रही हों। असंख्य कल्पप्रसूनों से धरा आच्छादित है। चरण चिन्ह ढूँढ़ते-ढूँढ़ते गोपांगनाएँ अपने प्रियतम की स्मृति में इतनी तल्लीन हो उठती हैं कि किसी को किसी लता-ओट, किसी को किसी कदम्बवृक्ष के नीचे अपने प्रियतम का आभास होने लगता है।

देखो, ये सखियाँ परस्पर क्या कह रही हैं ? सुनो तो, इनके हृदय में सापत्य की कैसी व्यथा भरी है ? "अरी बहिनों, देखो न ? प्रेमलीलाविहारी प्रियतम श्यामसुन्दर इस सौभाग्यवती अपनी प्रियतमा सखी का प्रेममद पान किये कैसे मत्त हो रहे हैं ? अरी बहिन ! आलिंगन और विहार करते प्रियतम के मणिमय मञ्जु मंजीर, वलयादि विविध भूषण कैसे मृदु, मधुर झंकार कर रहे हैं। और इस निर्जन यमुनापुलिन के एकान्त में इस परमातिपरम मधुर झंकार को दिगंगनाएँ प्रतिध्वनित करके इसका चतुर्दिक् शत सहस्रगुणा विस्तार कर दे रही हैं। देखो री बहिनों ! यमुना ने भी अपने आनन्द का प्रकाश कमलों में

केशर प्रस्फुटित करके कर दिया है। अरी बहिनों, तुम इस आश्चर्य को भी क्या नहीं देख पा रही हो ? सूर्य के प्रकाश के बिना कमलदल तो कभी विकसित होते नहीं, परन्तु आज तक जो रवितनया अपने पिता-रवि के दर्शन से उत्फुल्ल हुई पद्मों का विकास करती थी अब अपने प्राणवल्लभ श्यामसुन्दर के दर्शन से निशा काल में ही ऐसा कर रही हैं।"

इतने ही में दूसरी बोल उठती है - "हाँ, हाँ, सखी, कालिन्दी के कर्पूर धूलिपटल-सदृश स्वच्छ सैकततट पर मालतीवन में प्रियतम श्यामसुन्दर का विद्युत्वर्ण पीताम्बर स्पष्ट ही तो परिलक्षित हो रहा है। अरी सखि ! प्रियतम तो मत्त गयन्द की तरह अपनी प्रियतमा के साथ नव-नवनिकुंज-स्थलियों की ओर, लता-पल्लव-जाल से आवृत सुरम्य वनस्थली की ओर बढ़ते ही जा रहे हैं। अहा, उनके नीलद्युति अंग-अंग में प्रेम मद छलक रहा है। उनके चरणों को स्पर्श करती, लटकती वनमाला क्या तुम्हें उनकी मदभरी त्वरित चाल से लहराती नहीं दिख रही है ?" इतने में ही तीसरी उसके पास आ जाती है और कहने लगती है -"निश्चय ही प्रियतम श्यामसुन्दर अपनी प्रियतमा के एकान्त संग के मोहवश ही हमें छोड़कर चले गये हैं। देख ! प्रियतम की अनुकृति करता यह मन्द समीर, लता-वल्लरियों को इसीलिये तो इस प्रकार अपने आलिंगन से झकझोर रहा है। और यह शशांक अपनी प्रिया धरासुन्दरी पर किस प्रकार मतवाला होकर अपनी किरणें बरसा रहा है, तभी न उसके समागम से धरासुन्दरी को रोमाञ्च होने लग गया है। हाय रे, हम हतभागिनियों को तो ये सुधाकर की किरणें अग्निबाण की तरह चुभ रही हैं।"

अब चौथी की बात सुनो । वह तो पूर्णतया ध्यानस्थ है। वह बाहर देख ही नहीं रही। वह तो अपनी ध्यानछबि का ही वर्णन कर रही है -"अरी, अरी बहिनों ! सौन्दर्य-सिन्धु उमड़ा आ रहा है। शोभासिन्धु के अधिदेवता मेरे प्रियतम के अंग-अंग में समाये मानो स्वयं पधार रहे हों। उन परम-सुन्दर प्रेमाधिदेव को मानो अनन्त, असंख्य लोल-लहरियाँ घेरे आ रही हों। उनके वदनारविन्द पर चर्चित चन्दनखौर की लहरें हैं। उनकी कुटिल अलकों में सुचिक्कण कज्जल-सम बाँकी भ्रमरगणों की कृष्णमयता की लहरें हैं। अधर-पुटों पर कभी तो मधुरातिमधुर वंशी निनाद की स्वरलहरी नाच उठती है और कभी परमातिपरम सरस रसमय वाणी की लोल लहर उठ जाती है। उनके कपोलों पर लावण्यमयी मधुरिमा की लहर है। उनके श्रवणेन्द्रियों में, कुण्डलों एवं् दमकती मणियों की कान्ति की लहर है। सुन्दर वक्षस्थल पर वनमाला की

उज्ज्वल लहरें नाच रही हैं, कमनीय चरणों के समीप अरुणिम लालिमा लहरा रही है। सुन्दर नखावली पर उज्ज्वल लहरों की आभा फैली है। उनके नयनों में कटाक्षों और भ्रूनर्तन की अतिशय चंचल लहरी नृत्य कर रही है। उनकी ग्रीवा के समीप सौन्दर्य लहरें किञ्चित् बंकिम हो गयी हैं, सुन्दर, विशाल भुजाओं को सुपुष्ट श्यामता आवृत किये है। अहा, श्रृगांरवेश में मेरे हृदय में नित्य विराजित प्रेमदेवता के समस्त अंगों में ही उन्मादी प्रीति की लहरें उठ रही हैं। ये सौन्दर्य के अधिष्ठातृदेव सुन्दर चाल में चलते हुए, इस यमुना पुलिन को रसप्लावित कर रहे हैं।" यह कहती-कहती वह पूर्णतया ध्यानस्थ ही हो जाती है। अब सुनो, पांचवी, चारों को झकझोर कर सभी का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती हुई कह रही है - "अरी ! इस चम्पकतनी सखी को देख रही हो न ? अहा ! देखो न, प्रियतम-प्राणवल्लभ के प्रेम में छकी यह कैसी रसमाती हो रही है। देखो ! प्रियतम नीलसुन्दर भी इसको अपने प्राणों का समस्त रस उँडेलकर मानो आप्यायित ही कर देना चाह रहे हैं। अहा, वे इसके चन्द्रमुख को कितने प्यार से निहार रहे हैं और उस पर शत-शत चुम्बन अंकित करने लग जाते हैं। देखो, इस गोपी ने अपनी सुन्दर मृणाल-सी भुजाओं में प्रियतम को बाँधकर पूर्णतया आलिंगित कर रखा है और उनके सिर से यह कितने रसमय ढंग से अपने सिर को मिला रही है ? प्रियतम, इसका यह अप्रतिम स्नेह पाकर, देख न, सारी चंचलता त्यागकर किसी अनिर्वचनीय प्रेमानन्द में विभोर हुए, उसके हाथ के यंत्र बन गये है। देख न ! इस सुपुष्पित कदम्ब के रत्नमय आलवाल में वे इस सखी की गोद में, इसके प्रेम में मत्त कैसे शान्त शयन कर रहे हें और यह सखी इन्हें सुमधुर पंचम राग आलाप कर, सुना रही है। अरी देखो ! हम सबको धिक्कार है, हतभाग्य ! हम प्रियतम को सुखदान ही नहीं कर सकीं अन्यथा वे हमें छोड़कर जा ही नहीं सकते थे। देखो न ! प्रेमानन्द में विभोर प्रियतम की मुखछवि देखो न ? वे सर्वथा ही इस सखी के ऊपर न्यौछावर हो गये हैं। धन्य है, प्रियतम की प्रेमपरवशता।" अब छठी सखि की बात सुनो :- "अरी बहिन देखो न ? प्रियतम का कैसा निर्मल प्रेमी स्वभाव है। वे अपनी प्यारी प्रियतमा-प्राणवल्लभा को शयन कराने के लिये परम सुकोमल पुष्प-तल्प निर्माण करने जा रहे हैं। देखो न ! इनके नीलद्युति उन्नत भाल पर, उभरे हुए सुन्दरतम कपोल-युग्म पर स्वेदबिन्दु झल-झल, झल-झल कर रहे हैं, परन्तु इस ओर इनका सर्वथा ध्यान ही नहीं है। वे तो अपनी प्रिया की शय्या

निर्माण करने के लिये, पूर्ण दत्तचित्त, एक-एक पुष्प का चयन कर रहे हैं। वे पुष्प-लताओं के पास कितने निर्भय जा रहे हैं। उनके सुकोमलतम चरणों की लाल पगथलियों में कहीं कोई क्षुप्, तृण अथवा वीरुध चुभ जाय तो इसकी चिन्ता उन्हें है ही नहीं ? यह चिन्ता तो यहाँ, हम अभागिनें कर रही हैं। अरी ! वे तो एक-एक पुष्प को पहले अपनी हथेली पर रखते हैं, उसकी सुकोमलता की जाँच करते हैं, फिर उसका एक-एक पत्र सूँघते हैं। जब उसकी गंध उनकी नासिका द्वारा अनुमोदित कर दी जाती है तब वे गुच्छ-के-गुच्छ, उस पुष्प को एकत्रित कर, उनसे अपनी प्रिया की शय्या निर्माण करते हैं। यदि वह पुष्प-गंध उनकी नासिका को रुचिकर नहीं लगती तो वे उसी समय उसे छोड़ आगे बढ़ जाते हैं। अरी बहिन चलो न ! उनकी किंचित् सहायता करें, अन्यथा तो, वे प्रेम-परवश सब कार्य स्वयं अकेले अपने हाथों ही करते जावेंगे। देखो री ! प्रियतम ने अपनी प्रिया के श्रृंगार के लिये राशि-राशि सुगन्धित वन्य-पुष्पों को लेकर, उनकी अकेले मालायें बनायी हैं, अब इन्हीं से तो वे अपनी प्रिया को विभूषित करेंगे।"

अब सातवीं कह रही है - "अरी बहिनों ! यह विद्युल्लता-सी तडित्-वर्ण अंगोंवाली सखी ही इनकी प्राणप्रिया प्रतीत होती है। अरी, यह तो अत्यधिक निर्लज्ज प्रतीत हो रही है। देख ! यह प्रियतम से वार्त्ता कर रही है अथवा उनसे लिपटी ही जा रही है ? इसकी केशराशि वेणीबंधन से मुक्त बिखरी है और इसके उरोजों पर काँचली कंचुकी भी नहीं हैं। अरी, गुप्त वार्ता करने का भी कोई शील होता है यह तो मुख से मुख मिलाकर बात कर रही है। अरी, प्रियतम रसिकनागर इसी प्रकार वश में होते हैं। हाय ! हम लज्जा-मर्यादा का ध्यान रखती रहीं और प्रियतम को हमने खो दिया।"

इस प्रकार, अति सुकोमल-हृदया गोपसुन्दरियाँ विरहावेश में आकुल नेत्रों से इतस्ततः सर्वत्र अपने प्रियतम नीलमणि का प्रेमविहार देखने लगीं। प्राणों की तीव्रतम उत्कण्ठा उनके लिये कदली कुंजों में, कदम्ब वृक्षों के नीचे, शरद ज्योत्स्ना में चमचमाते यमुना तट पर इतस्ततः प्रियतम की अनेक प्रेमलीलाएँ, प्रत्यक्षवत् व्यक्त करने लगी। जैसे - प्राणों की तीव्र पिपासा रेगिस्तान में भटके हुए यात्री के सम्मुख मृग-मरीचिका के दृश्य सृजित कर देती है। कतिपय अतिशय कोमल-हृदया गोपांगना-प्रेमिकाएँ तो तुलसी आदि छोटे पौधों से वार्त्ता करने लगीं। कुछ कदम्ब और कदली वृक्षों से अपने प्रियतम का पता पूछने लगीं। कुछ भ्रमरों से ही बात करने लगीं।

गोपियों के सामने मानो समस्त दृश्य सर्वथा विलुप्त है। उनके सम्मुख तो अपने प्रियतम का मुसकान विकिरित करता आनन-सरोज है और उस आनन-कमल पर मधुपान करने के लिये बैठी हुई रसमत्त भ्रमरावली सदृश अलकें हैं। और ये गोपियाँ उन भ्रमरावलियों से कैसे प्रेममत्त हुई आकुल प्रार्थना कर रही हैं - "अहो रसमत्त भ्रमरों ! तुम परम धन्य हो। तुम निरन्तर गुन-गुन करते हमारे प्रियतम का परम अमृत गुणगान करते रहते हो। अत: इस गुणगान से तुममें सज्जन पुरुषों के दयालुता, वत्सलता आदि गुण तो अवश्य ही आ गये होंगे। अहो ! हमारा मन और ये दो नेत्र भी प्रियतम श्यामसुन्दर के नील-कुड्मल सदृश मुखसरोज का मादक मधुपान करने को तुम्हारी ही तरह परम आकुल हो रहे हैं। भाई ! इनको भी अपने साथ सम्मिलित कर लो, न। हाय ! हमारी तो प्रिय-वियोग में जो दशा होनी होगी, वह हो जायगी, ये हमारे नेत्र और मन मधुकर तो तुम्हारे संग प्रियतम-प्रीतिमकरन्द पान कर तृप्त हो जायेंगे। फिर वे अति दीन हुईं प्रियतम श्रीकृष्ण को अपनी विरह व्यथा सुनाने लगती हैं :-

"हे प्राणवल्लभ ! आपका कटाक्ष करता हुआ मधुरेक्षण हमें विमुग्ध करने के लिये मोहन मंत्र है, आपका भृकुटि विलास हमारे लिये मधुररस की फाँसी है और आपकी मृदु, मन्दमुसकान जादूका-सा प्रभाव डालती हमें पंगुवत् कर दे रही है। हे रसोद्गम ! हम सभी आपाकी बिना मोल की दासी हैं। इस अति विषम विरह-व्याल के विष से हम आक्रान्त हो चुकी हैं; अपने अधरामृत-रससिंचन से हमें बचा लीजिये। हे प्राणसुन्दर ! आपके वियोग में यह भीषण विरहदावाग्नि हमें निश्चय ही जलाकर भस्म कर देगी ।

देखो, देखो ! कुछ गोपियाँ मालती, जाति, यूथिका आदि पुष्प लताओं से आलिंगित हुईं, उन्हें मना रही हैं। वे प्रिय अदर्शन से ऐसी ठगी हैं, मानो एक निर्धन को पहले अपार धनराशि प्राप्त हो जाय और तब कोई उसे लूट ले। उन्हें जड़-चैतन्य का बोध ही नहीं है । वे देहानुसंधान रहित हैं। इन विरहिणियों को सर्वभाव की दशा प्राप्त हो गयी है, अत: योगमाया के आवरण से जड़वत् दृष्टिगोचर होतीं तरुगुल्म, लतावल्लरियां गोपियों के लिये चैतन्य मूर्त्तियाँ ही हो उठती हैं।

हे मालति ! हे जाति यूथिके सुनि हित दै चित।
मान-हरन मन-हरन लाल गिरिधरन लखे इत।

हे केतकि ! इत तैं चितये कितहूँ पिय रूसे।
हे नँदनंदन ! मंद मुसकि तुम्हरे मन मूसे।
हे मुक्ताफल बेलि ! धरें मुक्तामनि माला।
निरखे नैन विसाल मोहने नँद के लाला।
हे मंदार उदार ! वीर करवीर महामति।
देखे कहुँ बलबीर धीर मन हरन धीर गति ।
हे चंदन! दुखकंदन! सब कहुँ जरत सिरावहुँ।
नँदनंदन जगबन्दन चन्दन हमहिं मिलावहु ।।
बूझहु री इन लतनि, फूलि रहिं फूलनि सोही।
सुन्दर पिय कर-परस बिना अस फूल न होहीं।
हे सखि ! ये मृगवधू, इनहिं किन बुझहु अनुसरि।
डहडहे इनके नैन अबहुँ कतहूँ चितये हरि।
अहो कदंब ! अहो अंब ! निंब, क्यों रहे मौन गहि,
अहो बट तुंग सुरंग बीर ! कहुँ इत उलहे लहि।
जमुन निकट के विटप पूँछि भइ निपट उदासी
क्यौं कहिहैं सखि ! महा कठिन ये तीरथ-वासी।

"अरी मालती ! ओ जाति ! अहो यूथिके ! अरी बहिनों ! हमारी व्यथाभरी बात तनिक आत्मीयता भरे मन से एकाग्र होकर सुनना । बहनों ! क्या तुमने समस्त चराचर भूत-प्राणियों के चित्त चुराने वाले हमारे प्राणनिकेत को इधर से जाते देखा है ? हे केतकि ! प्रियतम हमारे किसी अप्रिय व्यवहार को लेकर रूठ गये हैं। अरी बहिन ! तू अनमनी उदास क्यों हो रही है ? क्या उनकी त्रिभुवनमोहिनी मुसकान ने तेरा मन भी हर लिया है ? तू बताती क्यों नहीं ? क्या तेरा मन भी तेरे पास नहीं रहा ? अरी मुक्ताफली ! तेरी तरह वे भी मोतियों की माला धारण करते हैं, उन त्रिभुवनमोहन को क्या तूने कहीं देखा है ? अहा ! आकर्णविलम्बी उनके नेत्र कैसे विशाल और प्रेममदछके हैं। हे चंदन ! तुम तो अपने शैत्य गुण से सबका ताप हरने वाले हो। क्या तुमको हमारे प्रियतम का कुछ भी अन्वेषण है ? अरे भाई, तुम बोलते क्यों नहीं ? प्रियतम-प्राणवल्लभ तो जगत् वंदनीय हैं और तुम भी तापसंतप्त हृदय की सकल आर्ति हरण करने वाले हो, फिर उनका पता बताकर हमारे हृदयों को परम शीतलता क्यों नहीं देते ? अरी लताओं ! तुम तो अतिशय प्रफुल्लित हो।

अवश्य ही तुमने हमारे प्रियतम के असमोर्ध्व माधुर्य का किञ्चिदंश तो अवश्य ही देखा होगा ? तभी न, विलक्षण आनन्द में सब कुछ विस्मृत कर, भ्रमित-सी हो रही हो । अरी बहनों ! क्या तुम्हें उनका किंचित्संस्पर्श भी मिला है ? अरी, उनका तो सब कुछ परम विलक्षण ही है। अरी, प्रपंच-निर्माता के हाथों से ही विश्व की एक-से-एक अधिक विस्मयजनक वस्तुएं सृष्ट हुई हैं, परन्तु कभी एक भी ऐसी वस्तु निर्मित नहीं हुई जिसका अवलम्बन कर, वे भी हमारे प्रियतम-प्राणवल्लभ के अचिन्त्य स्वरूप-सौन्दर्य, माधुर्य एवं संस्पर्श-सौगन्ध्य की मादकता का अनुमान लगा सकें। यद्यपि हम गँवार गोपियाँ तो किसी प्रकार भी उनकी प्रीति की अधिकारिणी नहीं । फिर भी हम इतना अवश्य जानती हैं कि किसी की भी ऐसी शोभा तभी निखरती है जब वे या तो उसके दृष्टिपथ में आ जाते हैं अथवा उसे अपने मादक संस्पर्श से अभिभूत कर देते हैं।"

"अरी सखि ! इन मृगपत्नियों से भी पूछ देखें ! ये ही कुछ उनका हमें अनुसंधान दे दें। इनके विशाल बडे-बडे डह-डहे नेत्र अवश्य ही हमारे प्रियतम प्राणवल्लभ की शोभा का संस्पर्श पाकर अति उत्फुल्ल हो रहे हैं। तभी न इन हरिणियों के कण-कण में निराविल परमानन्द बिखर रहा है। हमारे प्रियतम की अमित माधुर्यराशि का बिन्दुमात्र ही सही, इन्होंने पान अवश्य किया है । हे कदम्ब ! हे आम्र ! हे निम्ब ! अहो ! तुम सभीने न जाने हम हतभागिनियों से क्यो चुप्पी साध रखी है ? हे उत्तुंग वटवृक्ष ! तुम ही कुछ बोल दो। क्या तुम्हें भी हम पर दया नहीं आती। हम अपनी खोयी निधि का अनुसंधान पाने, देखो, कैसी विकल एवं आतुर हुईं चतुर्दिक दौड़ रही हैं । कहाँ गये हमारे प्राणरमण सखा ?

गोपियों को जब इनसे कुछ भी उत्तर नहीं मिलता है तो वे अतिशय निराश हो जाती हैं। वे मान लेती हैं कि ये यमुना तटवर्ती तीर्थवासी वृक्ष पण्डा हैं, अत: ये परम स्वार्थी, दयाहीन हैं। इनका स्वभाव ही ऐसा है। अब वे धरादेवी की ओर उन्मुख होती हैं :-

हे अवनी ! नवनीत-चोर चितचोर हमारे
राखे कितै दुराइ, बतावहु प्रान पियारे
अहो तुलसि कल्याणि ! सदा गोविंद-पद-प्यारी
क्यों न कहति तू नँदनंदन सौं व्यथा हमारी।

अपने मुख चाँदने चलैं सुन्दरि तिन माँहीं
जहँ आवैं तम-पुंज, कुंज गहर तरु छाँहीं।
इहि विधि बन-बन बूझि ढूँढ़ि उनमत की नाँई
करन लगीं मन हरन लाल-लीला मन भाई।

अरी अवनि ! तेरे तृणहीन परमसुकोमल संकुलित भाग पर हमारे प्रियतम के पादपद्म अवश्य ही कहीं न कहीं अवस्थित होंगे। वे जहाँ कहीं भी, अतिशय कमनीय प्रेमभंगिमा धारण किये अपनी किसी प्रेमपात्री को रिझा रहे हों, तू उन्हें हमारी व्यथा अवश्य निवेदन कर दे । अरी, तू तो ठीक-ठीक जानती है कि वे मात्र नवनीत चोर ही नहीं हैं, हमारे चितचोर भी हैं। अरी बहिन तुलसी ! तुम तो परम कल्याणमयी हो। प्रियतम के चारु चरणों में निरन्तर संलग्न रहना ही तुम्हारा सनातन नियम है; तुम प्रियतम-चरण-चिन्हित -कानन के रजकणों में जन्मती हो, तुम्हारी उनके चरणकमलों में अक्षुण्ण प्रीति है- तुम हम पर कृपा करो। हमें उनका किञ्चित् अनुसंधान तो दो।"

इस प्रकार करुण क्रन्दन करती गोपांगनाएँ यमुना के किनारे का बालुकामय प्रदेश त्याग, सघन वन में प्रविष्ट हो जाती हैं।

किन्तु सहसा ही उन्हें उस सखी की बात याद आ जाती है जिसने कहा था कि उन्हें गहन वन में ढूँढ़ो भले ही, परन्तु कहीं वे तुम्हारे अन्वेषण से पलायन करते गहन कान्तार में प्रवेश कर गये तो -- उस कंटकाकीर्ण वन-पथ में चलने से उनको जो व्यथा होगी, उसको सर्वोपरि ध्यान में रख लेना। यह विचार करके गोपियाँ वहीं उस सुरम्य वन में अपने प्रियतम की रसमयी लीलाओं का अनुसरण करने लग जातीं हैं।

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः।। श्रीमदभागवत ।।

हे जगत् के जीवों ! देखा तुमने, महज्जन चरण-रेणु की कृपा का चमत्कार। जो श्रीकृष्ण प्रकृति से परे की वस्तु हैं, जो स्वप्रकाश, परमानन्द-स्वरूप हैं, जिन्हें इन्द्रियाँ प्रकाशित कर ही नहीं सकतीं, मात्र कृपा परवश ही अपनी स्वप्रकाशिका शक्ति से किसी की बुद्धि में वे भले ही उतर आवें। जो स्थूल नहीं, अणु नहीं, क्षुद्र नहीं, विशाल नहीं, घन नहीं, द्रव नहीं,

छाया नहीं, तम नहीं, तेज नहीं, वायु नहीं, आकाश नहीं, रस नहीं, गन्ध नहीं, नेत्र नहीं, कर्ण नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, मुख नहीं, प्राण नहीं, माप नहीं, संग नहीं - इस प्रकार समस्त अपरमात्म, मायिक पदार्थों का निषेध कर ब्रह्मका प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के द्वारा जिनके सच्चिदानन्दस्वरूप का संकेत प्राप्त होता है; उनकी अपार कृपा के बल पर मुझे कैसी विलक्षण लीलाओं के दर्शन हो रहे हैं। मेरा मन इन महाभाग्य गोपियों का दर्शन ही नहीं कर रहा है, इनके परम गोपनीय से गोपनीय प्रेमभाव भी मेरे सम्मुख इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रकट हो रहे हैं मानो मैं इनके मन का साक्षी हो गया हूँ। उनकी कृपा से मैं एक-एक गोपी के भावों से अपने तृण-हृदय को भावित पा रहा हूँ, मानो मैं तृण नहीं रहा होऊं, मेरा पर्यवसान गोपीदेह में ही हो गया हो। अघटन-घटना-पटीयसी योगमाया ने अपनी किसी अनन्त कृपा के हेतु से ही मुझे यह तृण-भाव दिया है।

देखो, गोपियों का मन अपना मन रहा ही नहीं, स्वयं श्रीकृष्ण ही हो गया। उनके शरीर की प्रत्येक चेष्टा ही कृष्णमयी बन गयी। वे उनकी बोली बोलने लगीं। वे उनकी ही तरह चेष्टा करने लगीं और उनका गुण-गान करती उनकी लीलाएँ करने लगीं तथा उनमें निमग्न हो गयीं। उन्हें अपने शरीर का भान ही नहीं रहा। फिर घरों की स्मृति का तो प्रश्न ही कहाँ था ?

मोहन लाल रसाल की लीला इन्हहीं सोंहैं।
केवल तन्मय भई न जानैं कछु हम को हैं।
हरि की सी सब चलनि विलोकनि बोलनि हेरनि।
हरि की सी गायन टेरन घेरन पट फेरनि।
हरि की सी वन आवन गावन अति रसरंगी
हरि सम कौतुकरचन नटन नव ललित त्रिभंगी।
श्रीदामा बन भाग चढ़त कोउ कान्हर काँधे
कोउ यशुमति बन कान्ह दाम गहि ऊखल बाँधैं।
कोउ यमलार्जुन भंजत गंजत कालियबल कौं
कोउ कह मूँदहु नयन सोच नहिं दावानल को।
कोउ गिरिवर अम्बर को कर-धर बोलत है तब।
निधरक इहि तर रहौ गोप-गोपी-गोधन सब।

भृंगी भयतैं भृंग होय जब कीट महा जड़।
कृष्ण प्रेम तैं कृष्ण होइ तब का अचरज बड़।

देखो ! देखो ! यह पूर्णयौवना गोपी तीन वर्ष के वय की हो गयी है और नन्दनन्दन बनीं अपने अंगों में पुरुषोचित धोती धारण किये है। और इस दूसरी गोपी को देखो, इसने जननी यशोदा का आवेश ग्रहण कर लिया है।

लो, यह गोपी ठीक श्रीकृष्ण की तरह कौमार्य की चेष्टाएँ कर रही है। देखो ! इसने दूसरी गोपी को, जो विशालकाय साँड बनी डकार रही है-उसकी पूँछ पकड़कर उमेठना आरंभ कर दिया है और लो, अब तो यह साँड बनी गोपी की ग्रीवा पर, पीठ पर उछल कर चढ़ गयी है। यह उसके श्रंगों को पकड़कर उससे विविध क्रीड़ा कर रही है। और यह दूसरी गोपी जो नन्दरानी बनी है, किस प्रकार भयभीत हुई इसे निवारण करने की चेष्टा कर रही है। इस गोपी की चाल, विलोकनि, दृष्टि, वाणी, बोली बोलने का ढ़ंग सब ठीक श्रीकृष्ण की ही तरह हो रहा है। उसके नाट्य में इतनी स्वाभाविकता है कि देखनेवाला आश्चर्य ही करेगा। अब देखो ! यह कृष्ण बनी गोपी जननी यशोदा बनी गोपी के सम्मुख हठ करती गा रही है।

मैया री मैं गाय चरावन जैहों।
तू कह, महरि ! नन्द बाबा सौं, बड़ो भयो न डरैहौं !!
श्रीदामा लै आदि सखा सब अरु हलधर सँग लैहौं।
दह्यौ भात काँवरि भरि लैहौं, भूख लगै तब खैहौं।
वंसीवट की शीतल छैंयां खेलन में सुख पैहौं।
परमानंद दास सँग खेलौं, जाय जमुन तट न्हैहौं !!

और यशोदा बनी गोपी का इस हठगान को सुनकर रोम-रोम आनन्द पूर्ण हो उठा है। परन्तु वह इतने नन्हें से नीलमणि को वन में गोचारण करने भेजेगी, इसकी तो वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं करती । यह यशोदारानी बनी गोपी देखो किस प्रकार प्रसंग बदलकर अपने नीलमणि को सुलाने की चेष्टा कर रही है।

परम भाग्यवान् तृण देख रहा है, सम्पूर्ण वन में नाट्यवेश धारण किये असंख्य गोपियाँ अपने प्रियतम श्रीकृष्ण की असंख्य लीलाओं का अनुकरण जीवन्तवत् कर रही हैं। वे अपने प्रियतम-प्राणवल्लभ मनमोहन के परम

रसमय हावभाव से एकात्म हो चुकी हैं। वे अतिशय तन्मय हुई सर्वथा आत्म-विस्मृत कर गयी हैं कि हम गोपी हैं।

कृष्णजन्म लीलानुकृति

देखो । यहाँ व्रजेन्द्रगेहिनी, यशोदा सूतिकागार में नेत्र निमीलित किये चुपचाप निस्पन्द बैठी हैं। रोहिणी के भी नेत्र निमीलित हैं। अन्य समस्त परिचारिकायें भी निद्राभिभूत बाह्यज्ञानशून्य हो रही हैं। यशोदा के क्रोड़ से संलग्न सच्चिदानन्दकन्द हरि शिशुरूप में अवस्थित हैं।

देखो ! पुरमहिलाओं का दल नन्दप्रांगण में एकत्र होने लगा और तुमुल आनन्दध्वनि से सतिकागार ही नहीं, नन्दप्रासाद मुखरित हो उठा। देखो, देखो ये गोपियाँ गा रही हैं :-

नैन भरि देखो नन्दकुमार।
यशुमति कूख चन्द्रमा प्रकट्यौ या व्रज कौ उजियार ।।
बन जिन जाउ आजु कोउ गोसुत अरु सब गाय गुवार।
अपनें अपनें भेष सबै मिलि लावौ विविध सिँगार।।
हरद-दूब-अच्छत-दधि कुंकुम मंडित करो दुवार।
पूरौ चौक बिबिध मुक्ताफल, गावहु मंगलचार ।।

देखो, यह गोपी शहनाई बजा रही है। इसने पत्तों को मोड़कर पोले बाँस से शहनाई बनाई है। लो, ब्राह्मण आ गये। यह गोपी, व्रजेश उपनंद बनकर ब्राह्मणों का पूजन कर रही है। अहा, यह नन्दराय बनी गोपी कैसी आनन्दमत्त नृत्य कर रही है ? यहाँ कृष्णजन्म की लीला चल रही है। और इधर देखो, यह गोपी गा रही है :-

आज कहूँ ते या गोकुल में अद्भुत वर्षा आयी हो।
मणिगण हेम हीरधारा की ब्रजपति अति झरि लायी हो।
बानी वेद पढ़त द्विज-दादुर हियें हरषि हरियारे हो।
दधि घृत छीर नीर नानारँग बहि चले खार पनारे हो।

देखो ! इस रोहिणी बनी गोपी को देखो। यशोदानन्दन का मुख कैसे चाव से हेर रही है ? इसका रोम-रोम आनन्द में निमग्न है।

देखो, गीत गाती गोपी के नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही है। ये आँसू आनन्द के हैं:-

पटह-निसान-भेरि-शहनाई महा गरज की घोरें हो।
मागध-सूत बदत चातक-पिक बोलत बंदी-मोरें हो।
भूषन-बसन अमोल नंदजू नर-नारिन पहराये हो।
साखा फल-दल-फूलन मानो उपवन झालर लाये हो।
आनँदभरि नाचत ब्रजनारी पहिरें रँग रँग सारी हो।
बरन-बरन बादरन लपेटी विद्युत न्यारी-न्यारी हो।
दरिद्र-दावानल बुझे सबन के जाचक-सरबरपूरे
बाढ़ी सुभग सुजस की सरिता, दुरित-तीर-तरु चूरे।
उन्हयौ ललित तमाल बाल एक भई सबन मन फूल।
छाया हित अकुलाय गदाधर तक्यौ चरन को मूल ।।

अरे ! यह गोपी अपनी सखियों से क्या कह रही है :-

सखीकुल ! **गोकुलराजं पश्य** ! (सखियों ! गोकुलेश्वर नन्दजी को तो देखो।)

पुत्रोत्सवमनु खेलाभाजम् (पुत्रोत्सव के आनन्द में निमग्न होकर वे कितने चंचल, कितने कौतुक-परायण हो रहे हैं।

उदधिप्रभदधिसम्प्लवदेशम्
परितोघूर्णितमन्दरवेशम्
मध्यघटीफणिराजे कृष्टम्
ह्यसुहृद्भिरतीव च दृष्टम्
मध्ये मध्ये दुर्लभदानम्
ददतं दधतं विस्मयभानम्
एकं पुनरलमभवदपूर्वम्
अजनि विधुः बत यदितः पूर्वम्।

(देखो तो सही, बहनों ! यह सामने का दृश्य देखकर मुझे तो सागर मन्थन की स्मृति हो रही है । यह दही से भरा हुआ व्रज सागर जैसा हो गया है। उसमें मन्दर पर्वत के समान नन्दराय सर्वत्र घूम रहे हैं। उनकी कमर में लपेटा हुआ वस्त्र घृत-दधि से चिकना होकर, फूलकर ठीक वासुकि-नाग-जैसा बन गया है। उसे पकड़कर उनके प्रिय सुहृज्जन इधर-उधर खींच ले जा रहे हैं। देखो ! वे अतीव प्रसन्न हो रहे हैं। इतना ही नहीं जैसे समुद्र-मंथन के समय अनेकों रत्न निकल रहे थे, मन्दर-पर्वत सागर के रत्नों को निकाल-निकाल कर फेंक रहा था, वैसे ही ये नन्दरायजी बीच-बीच में रत्न-राशि लुटाने लग जाते हैं। अहा ! आज इनकी कैसी आश्चर्यमयी शोभा है ? परन्तु इस सागर-मंथन में एक अपूर्व बात हुई है। सर्वत्र प्रसिद्ध है -- चन्द्रमा मन्थन प्रारंभ होने पर- सागर मथे जाने पर निकले थे। पर नन्द का यह शिशुचन्द्र तो मन्थन होने के पूर्व ही प्रकट हो गया।)

पूतना लीलानुकृति

अरे, इस नन्दभवन की ओर जाती हुई गोपांगना को तो देखो ! यह पूतना बनी है। श्री मद्भागवतकार ने इसका जैसा वर्णन किया है, सांगोपांग इसने वही रूप धारण किया है । इसकी लहराती हुई वेणी में मल्लिकापुष्प गुम्फित हैं। वृहत् नितम्बभार एवं वक्षस्थल के कारण रमणी कृशोदरी है, सुन्दर साड़ी से इसके समस्त अंग आच्छादित हैं। हिलते हुए कर्ण-कुण्डलों की आभा से इसकी केशराशि दमक रही है। ऐसी दमकती हुई कुन्तलराशि से इसका मुख अलंकृत है; होंठों पर मन्द-मन्द मुसकान है। स्मितसमन्वित वक्र कटाक्ष-निक्षेप से व्रज-वासियों का मन हरण-सा करती हुई एक हाथ से कमलपुष्प घुमाती हुई वह मन्थरगति से चली जा रही है। अरे गोपियाँ इसे साक्षात् सर्व-सम्पद् अधिष्ठातृ श्रीदेवी समझकर, इसका स्वागत कर रही हैं। इसे कोई भी रोकता नहीं। निर्बाध वह वहाँ पहुँचती है जहाँ व्रजरानी बनी गोपी, शिशु बने नन्दनन्दन को लाड़ लड़ा रही है।

अरे, यहाँ तो शिशु का पालना-उत्सव हो रहा है।

कनक **रतन मनि पालनो गढ़्यो काम सुतहार ।**
विविध खिलौना भाँति के गजमुक्ता चहुँ धार ।।

जननि उबटि अन्हवाय कैं अति क्रम सौं लये गोद ।
पौढाये पटपालने सिसु निरखि-निरखि मन मोद।
अति कोमल दिन सात के, अधर-चरन-कर लाल।
सूर स्याम छबि अरुनता निरखि हरष ब्रजबाल।

अहा ! कैसा अभिनव स्वर्णमंडित एवं रत्नजटित पालना कामदेव नामक सुतहार(सुथार) ने निर्माण किया है । इसके चारों ओर गजमुक्ताओं के गुच्छ लटक रहे हैं। और इसकी ऊपर की दंडी में विविध भाँति के खिलौने लटके हैं। माता यशोदा ने कन्हैया को पहले उबटन करके फिर तैल लगाकर शास्त्रीय क्रम से पंचामृत आदि पदार्थों से नहलाया है। फिर पालने के पट पर सुन्दर सुकोमल गद्दी में सुला दिया है। श्रीकृष्ण मात्र सात दिन के ही वय के हैं। उनके दोनों चरण एवं दोनों हाथ लाल-लाल अरुणाई लिये हैं। यह अरुणाई ऐसी सुखद है कि गोपियाँ देख-देखकर निहाल हो रही हैं।

देखो ! रोहिणी आदि अनेक सखियों से घिरी यशोदा, श्रीकृष्ण बनी गोपी को चूम-चूम कर अति प्रमुदित हुई गीत गा रही है । यह राक्षसी बनी गोपी कुछ दूरी पर खड़ी हो जाती है। देखो, नन्दरानी बनी गोपी की दृष्टि इस पर पड़ जाती है। इस अतिशय दिव्य रमणी को देखकर वे चौंक जाती हैं। उसकी अभ्यर्थना करती हैं।

देखो, इस पूतना बनी गोपी के मुख पर पैशाचिकता का उल्लास छा जाता है। वह मधुमिश्रित स्वर में अपना परिचय देती है :-

"गोप्यः ! अहं मथुरावासिनी विप्रकामिनी। साम्प्रतं वाचिकवक्त्रेण मंगलसूचकम् तत्वम् श्रुतं। स्थविरे काले महान् नन्दपुत्रः बभूव इति। श्रुत्वा अहं तं द्रष्टुं आशिषं कर्तुम् ईप्सिताम् आगता ।"

"अरी गोपियों । मैं मथुरावासिनी ब्राह्मण-पत्नी हूँ । अभी संदेशवाहकों के मुख से परम मंगल सूचक समाचार सुन पायी कि नन्दराय को इस वृद्ध वय में सर्व सुलक्षण सम्पन्न पुत्र हुआ है; बस, यह सुनते ही मैं उसे देखने और अभिलषित आशीर्वाद देने चली आयी हूँ।" वह कहती ही चली जाती है और व्रजरानी एकटक उसकी ओर देखती रहती हैं।

"मम च सर्वश्रेयस्तननौ स्तनौ नित्यममृतं क्षरतः येन पीतेन सेऽयं निस्सन्देह सिद्धदेहः स्यात्। तस्मादहमस्य सर्वसुखविधातृधात्री च भविष्यामि।"

"मेरे इन सर्व मंगलदायी स्तनों से निरन्तर अमृत झरता है। जिसके पीने से तुम्हारे शिशु का शरीर अमर हो जायगा। अतः मैं तुम्हारे बच्चे की सर्वसुखदात्री धाय बनकर यह अमृतमय दूध उसे पिलाने आयी हूँ।"

देखो, निशाचरी यशोदानन्दन बनी गोपी की ओर बढ़ने लगी। वह तो निमीलित-नेत्र होकर पालने पर ठीक यशोदानन्दन श्रीकृष्ण की ही मुद्रा धारण कर शिशु-सुलभ-भंगिमा का सांगोपांग अनुकरण करती हुई, आँखें मूँदे है मानो ऐसी महादुष्टा का मुख देखना उसे अभिप्रेत नहीं हो। अहा ! यह गोपी तो मात्र श्रीकृष्णकी अनुकृति ही कर रही है, परन्तु इसके ध्यान में तो नन्दनन्दन पूर्णतया प्रतिचित्रित हैं ही, अतः इसके अञ्जन-निमीलित नेत्रों की शोभा तो देखते ही बनती है। यह अपने प्रियतम प्राणवल्लभ के बाल्यस्वरूप में इतनी तदाकार तन्मय है कि इसके मुख पर, नेत्रों पर, व्रजेन्द्रनन्दन के बाल्यसुलभ-भाव की हूबहू छवि झलमला उठती है। इसके नेत्रों को देखकर यही अनुभव होता है मानो नीलकमल-कोरकों की सम्पुटित अग्रिम पंखुड़ी पर दो मधुमत्त भ्रमर विश्राम कर रहे हों।

देखो ! यशोदा एवं अन्य गोपियों के देखते-ही-देखते यह राक्षसी अतिशय वात्सल्यपूर्ण प्रेमपूरित हाव-भाव का प्रदर्शन करके कंचुकी को अपसारित करती हुई नन्दतनय बनी गोपी के होठों पर दुर्जर विषसंसिक्त स्तनाग्र रख देती है। देखो, यह गोपी ठीक नन्दनन्दन की ही तरह चुक्-चुक् शब्द करती हुई दूध पीना आरम्भ कर देती है। पर यह केवल दूध ही नहीं पीती, यातुधानी बनी गोपी के मानो मलिन प्राणों को भी पीने लग जाती है। दो ही चार क्षणों में यातुधानी बनी गोपी ऐसा नाट्य करती है, मानो वस्तुतः ही उसके समस्त मर्मस्थानों में अतिशय पीड़ा होने जा रही हो। "अरे छोड़ ! छोड़ दे रे" - कहती वह यशोदानन्दन बनी गोपी को वक्षस्थल से उठाकर अलग दूर फेंक देना चाहती है। परन्तु इस गोपी ने तो उसके स्तनों को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक पकड़ लिया है । वह अपना सारा बल लगाकर छुड़ाने की चेष्टा करती है परन्तु तो भी हाथ तो छूटते ही नहीं। अब तो मर्मान्तक व्यथा से वह हाथ-पैर पटकती हुई भयंकर चीत्कार करने लगती है।

देखो, यह गोपी मायाविनी का नाट्य करती उड़ने का अभिनय करती है । अब तो उसकी शक्ति समाप्त हो चुकी है; वह निष्प्राण होकर गिर पड़ती है। गोपांगनाएँ यशोदानन्दन बनी गोपी को उठाकर तुरन्त छाती से लगा लेती हैं ।

शकटभंजन लीलानुकृति

अब देखो, यहाँ हो रही- शकटभंजन लीला की शोभा देखें।

इस गोपी में, जो श्रीकृष्ण बनी है, अपने अंगुष्ठ-क्षरित्-रस की महिमा का तत्व जानने की तीव्र इच्छा, उस रस के पान का अदम्य लोभ जाग्रत हो उठा है। अहा, इतनी वयस्क होकर भी वह अपने अंगुष्ठ को पी-पीकर कितनी प्रसन्न हो रही है। अरे भाई, तुम्हारी फूटी आँखें इसे गोपी देख रही हैं, यह है तो एक अभिनव बालभंगिमा का प्रकाश करने वाले, अपनी ही बाललीला-माधुरी का स्वयं ही रसलेने वाले नन्दनन्दन। अभी तक तो ये शय्या पर उत्तानशायी होकर किलक रहे थे। हठात् इन्होंने अपने आप अपनी दाहिनी ओर करवट ले ली। फिर क्या था, इनको करवट के बल सोये देखकर यशोदा, रोहिणी आदि धात्रियों के हृदय में आनन्द का सागर उमड़ पड़ा। एक ही साथ गोपियाँ हर्ष की तुमुल-ध्वनि से प्रांगण को निनादित करती नाच उठीं। नन्दरानी का तो रोम-रोम उत्फुल्ल हो उठा। वे दौड़ी आयीं। पुत्र का मुख-चुम्बन करती सुख-समुद्र में डूबने-उतराने लगीं। औत्थानिक उत्सव की धूमधाम में ही नन्दनन्दन इस शकट के नीचे आ गये हैं। नन्दराय के रत्न-प्रांगण में ही यह वृहदाकार शकट रखा हुआ है, उसके नीचे सुन्दर दोलिकामञ्च (पलना) टँगा है। इसके पाये प्रवालनिर्मित हैं। पट्टियाँ मरकतमणि-रचित हैं। अरुण क्षौम (रेशम) की डोरी एवं फीते हैं, तूलपुष्ट (रुई भरा) आस्तरण बिछा है। चतुर्दिक इसके तूलनिर्मित उपधान (तकिये) लगे हैं । इसी पलने पर माता यशोदा इन्हें सुला गयी हैं।

लो, यह उत्कच बनी गोपी भी आ गयी। अहा, यह वायु की लहर का कैसा कृत्रिम प्रर्दशन अपने नाट्य में कर रही है। शकट के नीचे अकेले किलकते, अंगुष्ठ-रसपान-संलग्न नन्दपुत्र को यह उत्कच बनी गोपी निहारने लगती है। देखो ! यह मन्दस्वर में बुदबुदाती बोल रही है- "पूतना का प्राणहरण करने वाला बालक यही है। यह इस महान शकट के नीचे अवस्थित

है, इसके सम्मुख जाकर इसके प्राण ले-ले, ऐसा तो किसी भी प्राणी के लिये संभव नहीं दीखता। छद्म करके पूतना मर ही चुकी है, अतः छद्म भी मेरे लिये निरापद नहीं है। इसीलिये अलक्ष्य रहकर मैं अपने उद्देश्य की सिद्धि करूँ- यह विचार करता उत्कच उस शकट को दबाने लगता है । 'चरमर' 'चरमर' शब्द करता शकट कम्पित होने लगता है।

सहसा नन्दनन्दन के चरण उछालने से उनका एक चरण-भाग शकट से स्पर्श कर जाता है। शकट अकस्मात् आकाश में उछलता है, और गिर पड़ता है। उसकी चोट से उत्कच चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, वायु देह छोड़कर दिव्य देह से बालक्रीडासक्त गोलोकविहारी नन्दनन्दन को वह प्रणाम करता है, और विमान पर आरूढ़ होकर गोलोक को प्रस्थान कर जाता है।

देखो, उपनन्द जी एवं उत्सव करती गोपमण्डली - 'नारायण, नारायण, त्राहि, त्राहि, दयासिन्धो ! करुणामय ! जगत्पते ! रक्षा करो, रक्षा करो,- पुकार उठती है। व्रजेन्द्र गद्‌गद् कण्ठ से "नारायणाखिल गुरो भगवन्नमस्ते !" कहते बालक को उठाने लगते हैं। रोहिणी यशोदाजी को तुरन्त सूचना देती है कि श्रीकृष्ण सुरक्षित हैं। यशोदा रानी बालक को स्तनपान करा रही हैं।

मल्ललीलानुकृति

और देखो ! यहाँ मल्ललीला हो रही है। दो प्रबल मल्ल हैं, एक बलराम बनी गोपी और दूसरी श्रीकृष्ण बनी गोपी। दोनों में अभूतपूर्व बाल्यभाव है। देखो बाललीला-रस-पान से छकी इन व्रजांगनाओं के लिये समस्त अमृत-राशि निस्सार हो चुकी है। हे जगत् के जीवों ! जिन तुच्छाति तुच्छ वैषयिक सुख की वासना- जिसमें तुम आपाततः लिप्त हो, उसके आकर्षण का तो इनमें प्रश्न ही नहीं, योगीन्द्र-मुनीन्द्रवांछित मुक्तिसुख भी इन के इस लीलानन्द की तुलना में इन्हें नमक सा कटु प्रतीत हो रहा है।

देखो, इन गोपियों का आनन्दवर्धन करते हुए श्रीकृष्णचन्द्र बाहुक्षेप करते- ताल ठोंक रहे हैं। उस समय गोपियाँ कह बैठती हैं - "नीलमणि ! तेरी अपेक्षा तो राम में बल अधिक है।" यह सुनते ही देखो, श्रीकृष्ण बनी गोपी अपने चूर्ण-कुन्तल-मण्डित सिर को किस प्रकार हिला-हिलाकर असम्मति

प्रकट करने लगती है। देखो, यह रोहिणीनन्दन राम बनी गोपी भी अपने अनुज की ओर देखकर कैसी निर्मल स्वाभाविक बाल हँसी हँस रही है। गोपांगनाएँ दोनों को पुचकार कर पास खड़ा कर दे रही हैं और स्वयं दो मण्डलों में विभक्त हुईं एक मण्डली श्रीकृष्ण बनी गोपी का पक्ष ले रही है और दूसरी बलराम बनी गोपी का। फिर तो अपनी-अपनी भुजायें फैलाकर दोनों लिपट पड़ते है। परस्पर एक दूसरे के प्रति अपना प्राबल्य दिखाते हुए से कभी श्रीकृष्ण ऊपर तो राम नीचे और राम ऊपर तो श्रीकृष्ण नीचे - इस प्रकार एक परममनोहारी अभिनव मल्लक्रीड़ा दोनों में सम्पादित हो रही है।

माखनचोरी लीलानुकृति

लो, इस सखी का आवेश तो देखो। यह मनोरथ कर रही है :- "हे मेरे प्राणवल्लभ ! कभी तो मेरे घर भी आओ। मेरे घर का नवनीत ग्रहण करो। यदि मेरे सम्मुख रहने पर तुम्हें संकोच हो तो नाथ ! मैं दधिमंथन करके सद्य-सुमिष्ट मक्खन निर्माण कर, तुम्हारे लिये छींके में रख कर इधर-उधर चली जाऊँगी। तब तुम आना, मेरे घर पर बैठकर अपने सखाओं के सहित यथारुचि मक्खन आरोगना। मैं यह तुम्हारी लीला छिपकर देखूँ और देख-देखकर निहाल हो जाऊँ। हे भगवान नारायण ! कृपा करो ! हाय ! मेरी यह साध पूरी कर दो ।"

ग्वालिन तो इधर अपनी जान में अपने मन के ये भाव भगवान् की घर में राजित प्रतिमा के सम्मुख गुप्त रूप में, प्रार्थना के रूप में प्रकट कर रही है; परन्तु देखो, ये एक दूसरी गोपी के रूप में बने अनन्तैश्वर्यनिकेतन भक्तवाञ्छाकल्पतरु, प्रेम के भूखे उसके प्रियतम श्रीकृष्ण स्वयं सुन रहे हैं और मन-ही-मन लो 'तथास्तु' उनके मुख से निकल ही तो जाता है।

देखो, यह गोपी यंत्र-परिचालित सी दही-बिलौना कर रही है। इसके हाथ ही दधिमंथन कर रहे हैं, परन्तु मन तो द्वारदेश में ही अटका है, रह-रह कर उसे भ्रम होता है मानो श्रीकृष्णचन्द्र उसके द्वार पर खड़े हैं। वह विस्फारित-नेत्र उधर ताकती है, परन्तु द्वार सूना पाकर पुनः अपने भावों में डूब जाती है।

परन्तु वाञ्छाकल्पतरु स्वयं भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन वस्तुतः ही उसके मनोरथतन्तु में बँधे उसके घर की ओर चल पड़ते हैं। जननी लपककर उन्हें थाम लेती है परन्तु अतिशय चेष्टा करके भी पक्वान्न-मिष्ठान्न वे उन्हें नहीं

खिला पाती हैं; केवल मात्र किंचित् माखन ही उसके मुख में डाल सकी हैं। आज क्षणभर का भी विलम्ब उसके कन्हैया को सर्वथा असह्य हो रहा है । वे जननी का हाथ छुड़ाकर अन्ततः भाग ही जाते है। यशोदा मैया भी आश्चर्यचकित है क्योंकि नीलमणि को बाहर जाने के लिये इतना व्यग्र उन्होंने प्रथम बार ही देखा है।

बलराम एवं अन्य गोपबालक घर से उनके साथ अवश्य चले थे किन्तु पथ में सभी पीछे रह गये। भ्रान्त होकर दूसरी और बढ़ गये। श्रीकृष्णचन्द्र निर्बाध एकाकी ग्वालिन के घर पर पहुँच गये हैं। ग्वालिन ने इस बार ज्यों ही द्वार की ओर देखा - "हैं ! नन्दनन्दन तो मेरे द्वार पर खड़े हैं। ओह, यह रूप !" ग्वालिन के प्राणों में स्पन्दन होने लगता है। पर वह जानती है कि क्षणभर का वियोग उसके मनोरथ को छिन्न-भिन्न कर देगा। ग्वालिन विद्युद्गति से अपने को एक मणिस्तंभ के पीछे छुपा लेती है।

देखो, श्रीकृष्ण बनी गोपी कैसी चुपचाप घर के भीतर प्रवेश कर जाती है। मथानी के निकट शान्त, मौन होकर बैठ जाती है और इस गोपी की कैसी दशा है। इसे तो मानो सचमुच ही श्रीकृष्ण के दर्शन हो गये हों। यह मतवाली होकर गा रही है -

मुख पर चंद डारौं वारि
कुटिल कच पर भ्रमर वारौं, भौंह पर धनुवारि।
भाल केसर तिलक छबि पर मदन शत-शत वारि।
निरख कुंडल तरणि वारौं, कूप श्रवणन वारि।
झलक ललित कपोल छबि पर मुकुर डारौं वारि।
नासिका पर कीर वारौं अधर विद्रुम वारि।
दसन पर कनि वज्र वारौं बीज दाड़िम वारि
चिबुक पर चित वित्त वारौं प्रान वारौं डारि।
सूर प्रभु की निरख शोभा को सकै जु निहारि ।

लो, अब यह सौन्दर्यसागर मानो तरंगित हो उठता है। श्रीकृष्ण नवनीत चोरी की लीला करने चलते हैं। चंचल नेत्रों से एक बार वे द्वार की ओर देखते हैं फिर पात्रों में से माखन निकालकर खाने लग जाते हैं। सहसा मणिस्तंभ में उन्हें अपना प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है । उन्हें प्रतीत होता है मानो मेरे आने से पूर्व ही एक अन्य शिशु यहाँ आया है और मणिस्तंभ से

सटा बैठा है । देखो, देखो श्रीकृष्ण कैसे भयग्रस्त हुए इसे मना रहे हैं। वे इसे अपने हाथ का मक्खन उत्कोच रूप में देना चाहते हैं। लेकिन खंभ से टकराकर नवनीत नीचे भूमि पर गिर जाता है। वे उसे पुनः समझाते हैं। "देख, इस प्रकार मक्खन फैंकते थोड़े ही हैं। खाले, भाई, हम दोनों मित्र हैं।

नन्दनन्दन की इस प्रकार की मुग्धलीला देखकर ग्वालिन के हृदय में प्रेमसमुद्र लहराने लगता है। उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है। आनन्द पूरित हँसी के रूप में वे ऊर्मियाँ बाहर प्रकट हो जाती हैं। वह स्तंभ की ओट से बाहर निकल आती है। श्रीकृष्णचन्द्र भी ग्वालिन को देख लेते हैं। एक अप्रतिम सुमधुर संकोच की छाया नन्दनन्दन के मुख को आवृत कर लेती है, साथ ही वे तुरन्त उठकर कुञ्जवीथी की ओर भाग चलते हैं।

वह बड़भागिनी गोपी तो आत्मविस्मृत है। वह विक्षिप्त सी घर से बाहर निकल पड़ती है । उसकी विचित्र दशा है । उसके रोम-रोम से आनंद झर रहा है। वह दूसरे ही मनोराज्य में रह रही है। इस शरीर में आवे तो कोई बात बतावे। उन्मत्त सी मौन इधर-उधर वह घूम रही है।

दामोदर लीलानुकृति

अब यहाँ और ही छबि देखें। श्रीकृष्णचन्द्र जननी के अपराधी हैं। जननी उनका एक हाथ पकड़े उन्हें भवन की ओर ले चलती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी देखो, कैसी बाल्यवत् अश्रुमार्जन कर रही है । उसके नेत्रों में लगा काजल अश्रुप्रवाह से धुल-धुलकर कपोलों को सिक्त कर रहा है। रुक-रुककर दूसरे हाथ से वह अश्रुमार्जन करने लगती है। भय-विह्वल नेत्रों से वह गोपी बारबार सिर उठाकर जननी बनी गोपी के मुख की ओर देखती है। किन्तु जननी बनी गोपी आज दया का लेश भी प्रकट नहीं कर रही। बार-बार वह स्वर्ण छड़ी को ऊपर उठाती है तथा ऐसी मुद्रा बनाती है मानो आज वह इस छड़ी से निश्चय ही श्रीकृष्ण के सुकोमल अंगों पर प्रहार करेगी ही। देखो श्रीकृष्ण बनी गोपी आकुल-कण्ठ से पुकार उठती है- मेरी मैया ! अब मैं ऐसा कभी नहीं करूँगा। किन्तु जननी बनी गोपी का हृदय तनिक भी नही पसीजता। और भी रोषभरी वाणी में वह उसकी भर्त्सना करने लगती है। 'अरे चञ्चलमति ! रे क्रोधी ! रे लोभी ! अरे वानरबन्धु ! रे असद्वाक्

विद्यावाचस्पति ! रे गृहलुण्ठनकारी ! बहुत उत्पात मचाये है। आज उन सब अपराधों का दण्ड मैं तुझे अवश्य दूँगी। चल, बता, कहाँ हैं तेरे खिलौने ? सब लाकर मुझे दे दे। मैं सारे खिलौने ले लूंगी। और फिर देख, इस छड़ी की ओर।" इस प्रकार जननी शमन को भी भय देने वाले विश्वभयहारी श्रीकृष्णचन्द्र को भय दिखाने लगती है । व्रजेन्द्रनन्दन का यह करुणक्रन्दन पार्श्ववर्ती आभीर सुन्दरियों के कानों में जा पहुँचता है। सबसे पहले देखो, यह वृद्धा गोपी व्रजेश्वरी को सीख देने आयी है। देखो ! वह कैसी रोषभरी यशोदा को डाँट रही है और गोपियाँ भी उसके साथ ही नन्दनन्दन का पक्ष लेने जा रही हैं :-

"अरी यशोदे ! तू किंञ्चित् से दधि के लिये इस नन्हें से बालक पर इतना क्रोध कर रही है, तनिक इसके मुख और शरीर की ओर तो देख ? अरी देख, यह तेरी इस लकुटी के भय से ऐसा काँप रहा है मानो प्रातः ही पंकजकोश मृणाल सहित वायु से कंपित हो रहा हो। अरी ! देख ! यह मुख नमित किये है, किन्तु इसके संकुचित अधरों से इसके भीतर की रोष एवं ग्लानि स्पष्ट परिलक्षित हो रही है। अरी, तू जरा से गोरस के लिये ऐसे मुखारविन्द का अपमान कर रही है, जिस पर प्राण भी न्यौछावर कर दिये जायें तो थोड़े हैं।"

आभीरसुन्दरियों ने, व्रज की वृद्धाओं ने, सभी ने श्रीकृष्णचन्द्र को जननी के अनुशासन से मुक्त कराने का अधिकतम प्रयास किया, किन्तु उन्हें यही उचित प्रतीत हो रहा है कि घड़ी-दो-घड़ी के लिये इसे बाँध ही दिया जाय। अतः सब की अवहेलना कर वे श्रीकृष्णचन्द्र को बाँधने चलती हैं।

सुनलो ! जगत के जीवों, सुनलो !! मुझ तृण पर, सर्वथा दीन, साधनहीन, असमर्थ पर -- जो न देव है, न दानव है, जो नर भी नहीं है, जिसके तप की, निग्रह की, ध्यान की ,भजन की संभावना ही नहीं है, जिसमें योग्य बुद्धि ही नहीं है कि तत्व-विचार आदि कर सके, जिसमें मन नहीं है कि प्रेमप्रीति कर सके, स्थूल इन्द्रियाँ ही नहीं हैं कि दृश्यसुख को अनुभव सके, जिसकी एक ही गति है कि वह किसी चतुष्पाद का मात्र भोजन बन जाय-- उस के ऊपर कृपावारिधि नीलसुन्दर की कैसी विलक्षण अनुग्रह वर्षा हो रही है। उसके सम्मुख शान्तरति, दास्यरति, वात्सल्यरति, सख्यरति और माधुर्यरति जन्य पाँचों प्रकार की सर्वोच्च भगवल्लीलायें व्यक्त हो रही हैं। आनन्दसिन्धु उमड़ रहा है और उसका हेतु क्या है ? मात्र निरीह चाह ?

महज्जनचरण-रज का आश्रय ? किंवा कृपा की आकांक्षा ? नहीं, नहीं, ऐसा कोई भी हेतु सिद्ध नहीं होता। हेतुरहित मात्र अनुग्रह, मात्र अनुग्रह, केवल अनुग्रह की भी प्रतीक्षा और कुछ नहीं।

तो शास्त्र कहते हैं जिन, श्रीकृष्णचन्द्र में न बाहर है, न भीतर है जिनका न आदि है न अन्त; त्रिकाल-सत्य-तत्व होने के कारण जिनमें काल-कृत परिच्छिन्नता भी नहीं है; जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सृजन से पूर्व भी विराजित थे, और इन सबके विलय हो जाने पर भी विराजित रहेंगे; जो अनन्त ब्रह्माण्डों के अन्तराल में अवस्थित हैं, साथ ही उनके बाहर भी ज्यों-के-त्यों विराजित हैं; जो स्वयं ब्रह्माण्ड बने हुए हैं- उन अचिन्त्यस्वरूप, साथ ही अधोक्षज (इन्द्रियों के गोचर) नराकृति परमब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र को अपना उदर-जात पुत्र मानकर, जैसे कोई काष्ठ पुत्तलिका को बाँधने चले- इस प्रकार यह व्रजमहिषी बनी गोपी बाँधने जा रही है और यह श्रीकृष्ण लीला करती श्रीकृष्ण बनी गोपी बँध रही है। सांगोपांग लीला हो रही है।

बन्धन का अर्थ ही है कि किसी ओर-छोर वाली सीमित वस्तु को उसकी अपेक्षा अधिक विस्तार वाली वस्तु से वेष्टित कर दिया जाय, लपेट दिया जाय। फिर अनन्तानन्त श्रीकृष्ण को लपेटने के लिये उनसे बड़ी वस्तु माता कहाँ से पायेगी ? यह तत्वज्ञान वात्सल्य-रसघन-मूर्ति यशोदारानी को कभी समझ में नहीं आ सकता । ये भाव उनके अन्तस्तल को कभी स्पर्श ही नहीं कर पावेंगें। वे तो प्रत्यक्ष ही, प्रतिदिवस ही उन असीम को अपनी भुजाओं में बाँध लेती हैं और इस समय भी उस असीम का एक परम सुकोमल हाथ वे अपनी मुट्ठी में पकड़े हैं। फिर उसका उदर-बंधन कर पावें ऐसी वस्तु की खोज भी उन्होंने तत्क्षण ही कर ली। उन्होंने अपनी वेणी से वेणीबन्धन की सुकोमल कृष्ण-पट्ट-डोरी निकाल ली और उससे वे श्रीकृष्णचन्द्र का कटिदेश सचमुच ही लपेट देती हैं।

और देखो, इन श्रीकृष्ण बने गोपी की भयग्रस्त आँखें तो देखो। और देखो इसका आवेश ? यह उच्चस्वर से बार-बार पुकारने लगती है - "अरी रोहिणी मैया ! दौड़, देख मैया मुझे बाँध रही है; तू मुझे छुड़ाले !" परन्तु आज तो उसकी पुकार पर रोहिणी भी नहीं आ रही, वे जो उपनन्दजी के घर किसी कार्य से गयीं हैं।

यस्य ह वाव क्षुतपतनप्रस्खलनादिषु विवशः सकृन्नामाभिगृणन्
पुरुषःकर्मबंधनमञ्जसा विधुनोति यस्य हैव प्रतिबाधनं
मुमुक्षवोऽन्यथैवोपलभन्ते ।।

जिनके नाम को केवल एक बार ग्रहण कर लेने मात्र से -- छींकने, गिरने, फिसलने के समय, विवश होकर एक नाम एक बार उच्चारण कर लेने मात्र से मनुष्य का अनादि कर्मबन्धन उसी क्षण छिन्न-भिन्न हो जाता है-ऐसा कर्मबन्धन जिसे मुमुक्षु पुरुष योगसाधनादि बड़े-बड़े उपायों के द्वारा बड़ी कठिनाई से काट पाते हैं, वह तत्क्षण नष्ट होजाता है; जिसके नाम की इतनी महिमा है -- वे श्री कृष्ण आज जननी के भावी बन्धन से मुक्त होने के लिये रो-रोकर पुकार रहे हैं, फिर भी उनकी रक्षा नहीं हो पा रही है। श्रीकृष्ण ! बलिहारी है तुम्हारी विश्वविमोहिनी लीला की !

यहाँ उपस्थित गोपसुन्दरियों को तो अवश्य ही श्रीकृष्णचन्द्र का यह क्रन्दन असह्य हो गया है, वे व्रजेश्वरी को समझा रही हैं -

अहो जसोदा ! कत त्रासति हौ, यहै कोख को जायौ
बालक अजौं अजान, न जानै केतिक दह्यौ लुटायौ
तेरौ कहा गयौ ? गोरस कौं गोकुल अंत न पायौ
कहा भयौ जो घर कैं लरिका चोरी माखन खायौ

परन्तु नन्दरानी तो मानती ही नहीं। श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी भी कैसी बाल्यलीला कर रही है, कभी बन्धन के भय से जोर लगाकर मैया के हाथ से छूटना चाहती है - कभी भूमि पर पसर जाती है, कभी जननी के पृष्ठ देश की ओर छिप रही है; परन्तु न तो जननी हाथ ही छोड़ती है और न बाँधने का आग्रह । एक हाथ से श्रीकृष्ण को दबाये रखकर दूसरे हाथ से पट्ट-डोरी को उनकी कटि में लपेटने की चेष्टा में लगी है। डोरी कमर के चतुर्दिक लिपट भी जाती है परन्तु गाँठ नहीं लग पाती, दो अंगुल छोटी हो जाती है। क्षणभर के लिये मैया रुकी, परन्तु अपराधी पुत्र को बाँधकर शासन तो उन्हें करना ही है ! ऐसा निश्चय कर दूसरी डोरी पुनः वेणी से निकाल लेती हैं और उसे पहली में जोड़ देती हैं; परन्तु ज्यों ही पुनः उदर पर यथास्थान

बाँधती हैं वह भी पुनः दो अंगुल छोटी हो जाती है। इसे किंचित् और बडी बना लूँ - ऐसा विचार कर अपनी कबरी में से तीसरी डोरी भी निकालकर जोड़ लेती है, परन्तु इस बार भी पृष्ठ बँधता नहीं, गाँठ नहीं लगती। इस बार भी पुनः दो ही अंगुल का व्यवधान हो जाता है। अब तो मैया को अत्यधिक आश्चर्य हो रहा है। क्योंकि पहली डोरी ही पर्याप्त थी, फिर दूसरी जोड़ ली, तीसरी भी जुड़ गयी, मैया के पूरे केश ही निर्बन्ध हो गये, परन्तु डोरी तो छोटी की छोटी ही थी। कुछ भी कारण हो, मैया के पास इस सब में बुद्धि लगाने का अवकाश ही कहाँ है ? परन्तु कबरी में तो अब डोरी हैं नहीं; श्रीकृष्ण को छोड़कर दूसरे स्थान से सुकोमल डोरी ले आना संभव भी नहीं; अब क्या हो ? ब्रजेश्वरी और कोई उपाय न देखकर गोपियों से कहती हैं - "मेरी उस मणि-पेटिका में ऐसी अनेक डोरियाँ पड़ी हैं, उन्हें ला तो दो, आज तो मैं इसे बाँधकर ही छोड़ूँगी।

गोपसुन्दरियाँ एक बार पुनः श्री कृष्ण के अनिन्द्य-रूप-सौन्दर्य की ओर मैया का ध्यान आकर्षित करती हैं जिससे उनका रोष शान्त हो जाय-

चितै धौं कमल-नैन की ओर
कोटि चन्द वारौं मुखछवि पर, ऐ हैं साहु के चोर
उज्ज्वल अरुन असित दीसति हैं दुहुँ नयननि की कोर
मानौ सुधा पान कैं कारन, बैठे निकट चकोर
कतहीं रिसति जसोदा इन सौं, कौन ग्यान है तोर
सूर श्याम बालक मनमोहन, नाहिंन तरुन किसोर

किन्तु ब्रजरानी आज तो उन पर भी क्रुद्ध हो जाती है - "देखो ! तुम सबकी शिक्षा की मुझे आवश्यकता है नहीं। मैं चाहती हूँ पट्ट-डोरियाँ ला दो; नहीं ला सको तो चुपचाप शान्त बैठी रहो। तुम्हें यह सहन नहीं हो रहा हो तो नेत्र बन्द कर लो, अपने घरों को लौट जाओ, मैं तो इसे आज बाँधकर ही रहूँगी।

सभी गोपसुन्दरियाँ हतप्रभ हैं। आज प्रथम बार ही ब्रजरानी को इन्होंने इस प्रकार कुपित देखा है। कुछ गोपियाँ तो डोरी लाने दौड़ गयीं, परन्तु एक गोपी जिसे मैया की बात पर अत्यधिक रोष आता है उसे प्रकट न कर झुँझला

कर यशोदारानी का मन्थनरज्जु, जिससे वे अपने प्राणप्रिय नीलमणि के लिये प्रतिदिन दधिमंथन करती थीं - लाकर उनके हाथ पर रख देती है और व्यंग में भरकर कहती है -"नन्दगेहिनी ! यह पर्याप्त लम्बी है, उन पट्टडोरियों में इसे जोड़ लो।" ब्रजरानी उस गोपी के व्यंग को जान तो जाती हैं, परन्तु बाँधने की त्वरावश कुछ भी उत्तर नहीं देतीं। मन ही मन उस अति मोटी रस्सी को देखकर कहती हैं - "ठीक बहिन ! तुमने वास्तव में ही उचित वस्तु ला दी।" वह मन्थन रज्जु सुचिक्कण था। यद्यपि स्थूल तो अधिक था परन्तु लम्बा पर्याप्त था। पट्ट डोरियों में उसे भी सन्नद्ध कर लिया गया, तब भी महान आश्चर्य, अतिशय आश्चर्य !! इतने सुदीर्घ लम्बे मन्थनरज्जु के जुड़ने पर भी पूर्ववत् वही दो अंगुल की न्यूनता देखकर अब तो मैया के विस्मय का पार ही नहीं रहता। इधर उपस्थित गोप सुन्दरियाँ सभी खिल-खिलाकर हँस रही हैं। कुछ नव तरुणियाँ जो वाचाल थीं, कहती हैं -"ब्रजेश्वरी ! जब हम उलाहना देने आया करती थीं - तभी हमने तो तुमसे कहा था कि यह कोई उत्कृष्ट मोहिनीविद्या जानता है और इसी विद्या के सहारे जब यह नवनीत आदि चोरी करने जाता है तो चोरों के सिद्धदेव कफल्लक को भी मात कर देता है। क्योंकि इस मोहिनीविद्या के बल से इसे न तो कोई बाँध सकता है, न ही पकड़ सकता है; यह मनमानी करता है। यह चोराग्रणी आज इसी विद्या के बल पर देखो, तुम्हारे बन्धन में भी नहीं आ रहा है।"

इन तरुणियों के उत्तर में यशोदा कहती हैं - "नहीं, नहीं, मुझे बतलाने की आवश्यकता नहीं ; मैं अच्छी प्रकार जानती हूँ कि इस नीलमणि का बन्धन क्यों नहीं हो पा रहा है। यह उसकी मोहिनीविद्या का नहीं, तुम्हारी किसी निन्दनीय विद्या का चमत्कार है।"

ब्रजेश्वरी का यह आक्षेप सुनकर क्या तरुणी, क्या वयस्का सभी अट्टहास करके हँस पड़ती हैं। गोपियाँ ब्रजरानी के चरणों की शपथ खाकर निषेध करती हैं।

इतने में वे गोपियाँ जो यशोदारानी की मणिमंजूषा से पट्ट डोरियाँ निकालने गयी थीं, वे बहुत सी डोरियाँ ले आती हैं। डोरियों की अगणित संख्या देखकर मैया का उत्साह बढ़ जाता है। वे उसी पूर्व रज्जु में पुनः माप कर कि मात्र दो अंगुल की ही कसर है, अनेक डोरियाँ एक साथ जोड़ती हैं परन्तु परिणाम एक ही सामने आता है कि बन्धन दो अंगुल छोटा हो जाता है। गोप सुन्दरियाँ तो हँसती ही हैं, अब तो मैया भी चकित हुई हँसने लगती

है। सभी अतिशय आश्चर्य कर रही हैं। मैया के घर में जितनी डोरियाँ थीं सब मिला लेने पर भी दो अंगुल का अन्तर समाप्त नहीं हो रहा। अब तो सम्पूर्ण नन्दग्राम से, वृहद्वन से डोरियाँ आने लगीं। अतिशय आनंद कौतूहल से घर घर से गोपियाँ जितनी घर में डोरियां मिलती हैं, ले आती हैं। श्रीकृष्णचन्द्र के इस अद्‌भुत चरित्र को देखने की अभिलाषा में समस्त ग्राम की ब्रजवधुएँ दौड़-दौड़कर नन्दभवन इकट्ठी हो गयी हैं। सम्पूर्ण ग्राम से लायी डोरियाँ जुड़ जाने पर भी नन्दनन्दन की पीठ से लगते ही वह दो अंगुल का अन्तर नहीं मिटता।

सचमुच ही वह न्यूनता परब्रह्म का संस्पर्श पाकर स्वयं परब्रह्म बन गयी थी और ब्रह्म के ही समान हास-वृद्धि से रहित हो गयी थी। न घटती थी, न बढती थी बस दो अंगुल की ही बनी रहती थी।

अब तो सारे ग्राम की डोरियाँ भी समाप्त हो गयीं। बाँधने का प्रयास करती ब्रजरानी भी श्रान्त हो गयी। उसके समस्त अंगों से स्वेदधारा बह रही थी। जिस मालती की माला से मैया ने अपने केश बाँध रखे थे, वह भी टूट गयी। जननी की इस हताशा ने कि 'मैं नीलमणि को नहीं बाँध सकूँगी' देखो श्रीकृष्णचन्द्र के नेत्रों मे दया भर दी। बस, कृपाशक्ति प्रकट हो गयी और श्रीकृष्णचन्द्र ने मैया की प्रथम पट्टडोरी में ही बँधना स्वीकार कर लिया। मैया ने अपने प्राणसार सर्वस्व कन्हैया को एक ऊखल से बाँध दिया और गृह कार्य में लग गयी। इधर देखो ! इन गोपशिशु बनी गोपियों की दशा कैसी विचित्र हो रही है। अपने प्रियसखा को जननी के बन्धन से मुक्त करने के लिये अपने को गोपशिशु समझती हुईं, ये देखो, कैसा परस्पर परामर्श करने में संलग्न हैं। उन्हें भय है कि कहीं जननी न आ जाय। एक गोपी गोप-शिशु बनी अतिशय सावधानी पूर्वक उस प्रांगण की ओर देख आती है कि मैया क्या कर रही है। इधर वह जैसे ही संकेत करती है एक शिशु धीरे से श्रीकृष्णचन्द्र के समीप जाता है। उनके ऊखल में बँधे अंगों को हाथ से स्पर्श करता है। फिर तुरन्त ही जननी के भय से सशंकित हो उठता है। उसको एक युक्ति सूझ पड़ती है और वह नन्दनन्दन के कान के समीप मुख ले जाकर कहता है -- "अरे भैया, तू इसे खोल ले। फिर अन्यान्य शिशुओं को भी अपने ध्यान में आये उपाय की सूचना देता है। सभी सहमत हो जाते हैं। सब धीरे-धीरे फुसफुसा कर कन्हैया के कान में राय देते हैं "बस तू खोल ले और हमारे साथ भाग चल।" परन्तु समस्त प्राणिमात्र का भवबंधन संकल्प मात्र से खोल

देने की वे भले ही सामर्थ्य रखें, मैया द्वारा ऊखल से बाँधी बंधन-ग्रंथि तक उनके छोटे-छोटे हाथ पहुँच नहीं पाते।

असफल, निराश, निरुपाय से हुए वे सखाओं की ओर देखने लगते हैं। अच्छा, तेरे हाथ नहीं पहुँचते, ठहर, मैं यह बंधन-ग्रन्थि खोल देता हूँ।" कहता एक सखा मधुमंगल आगे बढ़ता है। परन्तु ग्रन्थि इतनी सुदृढ़ बाँधी गयी है, उससे खुल नहीं पाती। उसकी सहायता करने श्रीदाम आता है परन्तु वह भी असफल। अब सुदामा सशंकित नयनों से मैया की आहट लेता आगे बढ़ता है, परन्तु गाँठ हिलती तक नहीं। सख्यरस की धारा चाहे कितनी प्रबल हो, वह वात्सल्यरस की स्निग्धता की गाँठ खोल थोड़े ही सकती है। मैया का दिया बंधन इतना क्षीण थोड़े ही है, इसीलिये जननी की लगायी गाँठ अविचल रहती है। उदास शिशु मण्डली अपने सखा के मुख की ओर देखने लगती है।

अचानक श्रीकृष्ण को एक उपाय सूझ पड़ता है। उन्हें आँगन में खड़े पुरातन दो यमल अर्जुन वृक्ष दिख जाते हैं। वे सखाओं से कहते हैं - "भैयाओ ! देखो, यह ऊखल बहुत ही भारी है। अकेला तो मैं इसे खींच सकूँगा नहीं। परन्तु तुम सब सहायता करो। सब मिलकर धक्का देते इसे लुढ़काते चलो। मैं भी जोर लगाकर खींचता हूँ। फिर देखो ! चलें वहाँ इन अर्जुन के दो वृक्षों की ओर। इन वृक्षों के मध्य मैं तो समा जाऊँगा परन्तु यह ऊखल भीतर जा नहीं सकेगा। साथ ही अपने इसे टेढ़ा भी कर देंगे। फिरतो यह इस पार ही अटक जायगा। तब फिर उस पार से मैं डोरी को झटके दूँगा । पूरे बल से डोरी खिंची कि टूटी। बस काम हो गया। युक्ति सुनते ही गोपशिशुओं के हर्ष का पार नहीं रहता।"

देखो ! श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी दोनों हाथ एवं दोनों घुटने टेके पृथ्वी पर ऊखल को ठेलने लगती है। गोपशिशु भी जोर लगा-लगाकर ऊखल को लुढ़काने की चेष्टा कर रहे हैं। देखो श्रीकृष्ण बनी गोपी के अरुण कपोलों पर, ललाट पर श्रमकण झलकने लगे। यहाँ इस वन में ऊखल कहाँ से आता, एक सूखे काष्ठ के लट्ठ को ही ऊखल के रूप में कल्पित कर लिया गया है। अहा! श्रीकृष्ण की क्या शोभा है :-

बंधुक सुमन अरुण पद पंकज, अंकुस प्रमुख चिन्ह बनि आये।
नूपुर कलरव मनु हंसिनि सुत रचे नीड़ दै बाँह बसाये।
कटि किंकिनि-वर हार ग्रीव, दर, रुचिर बाहु भूषन पहिराये।

उर श्रीवत्स, मनोहर हरि-नख, हेम-मध्य मनि-गन बहु लाये।
सुभग चिबुक, द्विज-अधर-नासिका, स्रवन-कपोल मोहि सुठि भाये।
भ्रुव सुन्दर, करुना-रस-पूरन, लोचन मनहुं जुगल जलजाये।
भाल विसाल ललित लटकन मनि, बाल-दसा के चिकुर सुहाये।
मानौ गुरु सनि-कुज आगें करि ससिहि मिलन तम के गन आये।
उपमा एक अभूत भई तब, जब जननी पट पीत उढ़ाये।
नील जलद पर उडुगन निरखत तजि सुभाव मनु तड़ित छिपाये।
अंग-अंग-प्रति मार-निकर मिलि, छबि-समूह लै-लै मनु छाये।
सूरदास सो क्यौं करि बरनै, जो छबि निगम नेति करि गाये।

देखो, रिंगण करते श्रीकृष्ण अर्जुनवृक्ष बनी गोपियों के निकट आ पहुँचते हैं। देखो इन्हें निकट पाकर इन युग्मगोपियों की कैसी प्रेमदशा हो रही है। यह तो सत्य ही है कि वृक्षों में संवेदन शक्ति होती है। फिर ये तो शापभ्रष्ट धनद पुत्र हैं। अपने इस परिणत रूप में इनमें अपनी पूर्वजन्म की स्मृति अक्षुण्ण है।

देखो, श्रीकृष्ण गोपी रूप युग्मवृक्षों के अन्तराल से होकर उस पार जा पहुँचते हैं। छिद्र में उनके प्रवेश होते ही ऊखल तो अपने आप ही टेढ़ा हो जाता है । सखा बोल उठते हैं -"हाँ भैया ! बस कन्हैया ! भैया, ऊखल अड़ गया है, अब तू खींच ले, केवल एक झटका दे दे।" बालगोपाल बनी गोपी के बिम्बविडम्बी अधरों पर एक मन्द मुसकान छा जाती है। वे दामोदर अपनी कटि से बँधे ऊखल को तनिक अपनी ओर खींच लेते हैं। बस, फिर तो क्षण भर भी न लगा, अर्जुन तरुओं की पृथ्वी में धँसी जडें उखड़ आती हैं। प्रकाण्ड धड़ अगणित उपशाखायें, सघन पल्लव-जाल -- सभी ऐसे स्पन्दित होने लगते हैं, मानो प्रबल झंझावात उन्हें लेकर उड़ चला हो। दामोदर का बाल्योचित बल-प्रकाश ही उनके लिये सर्वथा असह्य हो जाता है और उनका अणु-अणु प्रकम्पित हो उठता है। देखते-ही-देखते अत्यन्त घोर शब्द करते हुए अचिन्त्य वेग से वे दोनों वृक्ष पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं। अवश्य ही वे इस प्रकार ऐसे स्थान पर गिरते हैं, जहाँ एक भी गोप शिशु नहीं, एक भी गौ, गोवत्स नहीं, गृहरचना का कोई अंश नहीं, केवल मात्र मणिजटित समतल भूमि है। इसीलिये किसी को भी किंचिन्मात्र भी क्षति नहीं लगती, नन्दप्रासाद के किसी भी भाग में कहीं कोई टूट-फूट नहीं होती। ये जड़ वृक्ष तो थे नहीं, धनद

पुत्र थे, और अब तो वे कन्हैया के निज जन हो गये थे, उनमें समस्त भक्तिगुणों का विकास हो गया था। अमित शक्ति आ गयी थी। महान् आश्चर्य तो यह है कि इतने विशालकाय अर्जुनवृक्ष ऊखल-आकर्षण से मूलोत्पाटित होकर गिरते हैं परन्तु जननी यशोदा के वात्सल्य से प्रेरित, उनके द्वारा निर्मित, आग्रहमय वह बंधन नहीं खुलता। ऊखल में लगायी उनकी डोरी, वह ग्रन्थि नहीं टूटती। श्रीकृष्णचन्द्र का वह बन्धन अक्षुण्ण ही रहता है। हाँ ! दो सिद्ध पुरुष भी उनके अन्तराल से प्रकट होते हैं और श्रीकृष्ण चरणों में न्यौछावर होने चल पड़ते हैं।

नतजानु हुए, अञ्जलि बाँधे ये धनदपुत्र नलकूबर, मणिग्रीव श्रीकृष्णचन्द्र के चरणप्रान्त में अवस्थित उन्हें प्रणाम कर रहे हैं। व्रजचन्द्र की चरण-नख-चन्द्रिका ने उनमें दिव्य-ज्ञान का उन्मेष कर दिया है। नवनीरद-श्यामल श्रीअंगों ने रस की सरिता बहा दी है। हर्षातिरेकवश उनका कण्ठ रुद्ध है। नेत्रों से अनवरत अश्रु की वर्षा हो रही है। कपोल, वक्षस्थल आर्द्र हो चुके हैं। वे अपने मुकुटमंडित सिर को झुकाकर दूर से तो वन्दना कर चुके पर उसे श्रीकृष्णचन्द्र के चरण-पल्लव से स्पर्श करा देने के लिये वे अत्यन्त व्याकुल हैं। परन्तु शरीर विवश हो रहा है। जड़ सा बनकर चेष्टाशून्य हो रहा है। बाल्यलीलाविहारी का बाल्यावेश, बाल्यभंगिमा कुबेरपुत्रों को यह सौभाग्य सहज में देना जो नहीं चाहती। ऊखल से बँधे होने के कारण, और ऊखल के अटक जाने से वे भाग तो नहीं सकते। परन्तु अपने करकमल नचा-नचा कर उन्हें स्पर्श न करने का संकेत करने लगते हैं।वे कुबेर पुत्रों की ओर देखकर पुकार उठते हैं -"अरे, अरे! तुम तो कोई देवता हो, मुझ गोकुल के गोपराज के पुत्र के क्यों पाँव पकड़ते हो ? श्रीकृष्ण की इस रसीली उक्ति से ऐसी गंभीर प्रीतिधारा बह चलती है कि कुबेरपुत्रों का ऐश्वर्य ज्ञान एक बार तो उसमें डूब ही जाता है।

कालिय-निग्रह लीलानुकृति

देखो ! देखो !! यहाँ श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी के अधरों पर नित्य विराजित स्मिति की आभा किंचित् गंभीर भंगिमा धारण कर रही है। उनकी दक्षिण भुजा कालिय-ह्रद की ओर केन्द्रित हो गयी है। वह तर्जनी से कालिय

नाग के उस आवास की ओर संकेत करती हुई एक श्वास में ही बोलती जा रही है। उसकी वाणी में पर्याप्त ओज भरा है। "अरे भैयाओं ! देखो तो सही, इस चमचम करती यमुना के वक्षस्थल में एक हृद में एक बहुत बड़ा सर्प रहता है। वह महा दुष्ट है। उसका नाम कालिय है। वह जल-स्तंभन-विद्या जानता है । उस विद्या के प्रभाव से इस हृद में गृह का निर्माण कर वह निवास करने लगा है। देखो ! अपनी आँखों से देखलो, ऊँचे आकाश में उड़ते पक्षी भी इसकी फुफकार में भरे भयंकर विष से सबके सब इस हृद में गिर पड़ते हैं। इसकी जिह्वा ऐसी भयंकर विषज्वाला निकालती है कि चारों ओर की भूमि ही झुलस एवं जल जाती है। मेरी तो इच्छा है कि साहसपूर्वक मैं इस कदम्ब पर चढ़ जाऊँ और इस विषमय हृद में कूदकर कालिय को बाहर करूँ । देखो, तुम सब लोग इस स्थान पर ही गायों को सँभालना। यह कहती हुई उस कृष्ण बनी गोपी ने दाहिने करतल से अपनी बामभुजा को ठोक कर उस कदम्बतरु पर चढना आरंभ किया और तरु के ऊपर की सर्वोच्च शाखा पर जा विराजी। श्री कृष्णचन्द्र बनी गोपी देखो इस प्रकार यमुना की ओर देख रही है - मानो वह भली प्रकार से निरीक्षण कर रही हो कि केवल तीर-भूमि ही नहीं, यमुना का प्रवाह भी कितने वृहद् अंश में इस कालिय ने विषदूषित कर दिया है। अरे ! अरे! कदम्ब की यह शाखा अतिशय वेग से कंपित हुई और नील सुन्दर बनी गोपी तो उस यमुमा में कूद ही पड़ी।

अरे कालिय तो कभी का यमुना छोड़कर चला गया। परन्तु यह क्या ? अरे, कुछ गोपियाँ तो नागवधुएँ बनीं बाहर आ गयी हैं। वे आधे अंगों से यमुना में डूबीं हैं और आधी बाहर खडी हैं। उनके मध्य श्रीकृष्ण बनी गोपी खड़ी है। वे कह रही हैं - "हाय रे ! इस बालक का भविष्य ! हमारे क्रूर पति के सम्पर्क में इस अप्रतिम सुन्दर बालक की क्या दशा होगी ? वे आतुर होकर श्रीकृष्ण बनी गोपी को उस स्थान से शीघ्रतिशीघ्र भाग जाने के लिये संकेत कर रही हैं।

अरे ! कौन को बालक है तू बार-बार कहि भाग न जाई।
छनकहिं में जरि भस्म होयगो जब देखै उठि जाग जम्हाई।।
उरग-नारि की बानी सुनि कै आपु हँसे मन में मुसुकाई।
मोकौं कंस पठायौ देखन, तू याकौं अब देहिं जगाई।।

किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र तो भागना दूर हँस रहे हैं। नागवधुएँ कातर होकर बारबार आग्रह कर रही हैं- "रे बालक तू भाग जा।" किन्तु कृष्णचन्द्र तो वैसे ही हँस रहे हैं। इतना ही नहीं निर्भय नेत्रों से नागपत्नियों को समझा रहे हैं।

"कहा डर करौं इहि फनिग को बावरी"

देखो, नागपत्नियों के मना करने पर भी अपने चंचल कर-कमलों से श्रीकृष्ण यमुना-जल आलोड़ित करने लगे। लो, कालिय के प्राण चंचल हो उठे। वह अधीर सा हुआ अपने सर्पावास से बाहर निकल आया। ह्रद के ऊपर आकर देखो, इस कालिय सर्प बनी गोपी ने अपनी ओढ़नी का कैसा फणों के समान विस्तार किया है।

देखो ! यह गोपी जो सर्प बनी है बोल रही है :-"अरे ! यह तो एक शिशु है। सौन्दर्य का निर्झर झर रहा है इसके अंगों से । कैसा नयन-सुखद सुकुमार है यह ! नवजलधर की श्यामलता भरी है इसकी अंग-कान्ति में। अरे, अरे, यह कैसी विलक्षण नीलिमा है जो ह्रद की उर्मियों में प्रतिबिम्बित हो रही है। श्यामद्युति से मेरा सम्पूर्ण आवास ही उद्भासित हो रहा है। अरे ! इस बालक को मेरी विषज्वाला कुछ भी प्रभावित नहीं कर रही अपितु इससे तो सर्वत्र सुधा का प्रस्रवण हो रहा है। अहा, ये शिशु के अंग तो आनन्द के निर्झर हैं। कमल-कोश से भी अधिक सुकोमल इसके अरुण चरण हैं। मृदुहास्य समन्वित कितना सुन्दर इसका मुखकमल है।

देखो, कालिय सौन्दर्य-दर्शन से विथकित हो उठा है।

परन्तु यह क्या कालिय को देखकर श्रीकृष्ण बनी गोपी तो भाग चली। यमुना में कैसी लीला हो रही है। उसके पीछे कालिय बनी गोपी भी उसे ग्रस लेने को भाग रही है। अरे बलिहारी है बाल्य-लीलाबिहारी के कृपा-दान की। कालिय को श्रीकृष्ण के अरुण चरणों का स्पर्श तो मिल गया, परन्तु उसने तो लपक कर इन्के पाद-पल्लव में दंशन कर लिया, विष उगल दिया।

परन्तु अरे ! यह शिशु तो कालिय के दंशन से भस्म ही नहीं हुआ। यह तो और भी उल्लास में भरकर पुनः वेग से वैसे ही ह्रद के जल को क्षुब्ध करने लग गया। कालिय के विस्मय की सीमा नहीं रही। पर उसे प्रतीक्षा का अवकाश भी कहाँ। जलती हुई आंखों से श्रीकृष्ण बनी गोपी की ओर देखता

हुआ यह कालिय उसके सर्वांग में बार-बार दंत प्रहार कर रहा है। परन्तु नीलसुन्दर का कुछ भी बिगाड़ नहीं होता, वे तो क्षतशून्य ही हैं। "इस शिशु में कोई अद्‌भुत सामर्थ्य अवश्य ही है।" कालिय बुदबुदा रहा है। अब तो उसकी आखों में मानो क्रोध की भट्टी फूट पड़ी हो। बडे वेग से वह झपटता है, व्रजेन्द्रनन्दन के अंगों को लपेट कर चूर्ण-विचूर्ण कर देने के उद्देश्य से। लो, कालिय ने नन्दनन्दन को अपनी कुंडली में वेष्टित कर लिया और नन्दनन्दन मृतवत् निश्चेष्ट होकर कालिय-पाश में बँध गये। हाय ! हाय ! यमुना तट में कैसा हाहाकर मच गया है। असंख्य गोप शिशु बनी गोपियाँ "हाय रे ! मेरा कन्नू" कहकर अचेत हो गये हैं।

गायों के रूप में भी गोपियों ने हम्मारव करना प्रारंभ कर दिया। गोप-शिशु बनी गोपियाँ मूर्च्छित ही हो गयी हैं। देखो ! ब्रजपुर से दौड़े वयस्क गोप आ रहे हैं और श्रीकृष्ण को निष्चेष्ट देखकर मूर्च्छित होकर गिर पड़ते हैं। ब्रज की धरा अभूतपूर्व रूप से कम्पित होने लगी। यशोदारानी की आँखों से झर-झर अश्रुप्रवाह हो रहा है। ब्रजपुरन्धियाँ दौड़ती आ रही है। दिशायें धूँएँ से धूमिल हैं। दिनमणि सूर्य निस्तेज है। सभी व्रजवासी नितान्त विक्षिप्त से हुए गोकुल से दौड़े आ रहे हैं। ब्रजपुरसुन्दरियों के केशबन्धन उन्मुक्त हैं। तन-आवरक वस्त्र अस्तव्यस्त हैं। गोपों की शिखायें खुल गयी हैं। पद-पद पर स्खलित होते, भूमि पर गिरते-पड़ते वे सब चले आ रहे हैं। हाय रे ? कृपा रे ? सबके मुखों से एक ही करुण नाद वनप्रदेश को नादित कर दे रहा है। ओह, तट पर सबसे पहले मूर्च्छित होकर गिरे ब्रजेश। ब्रजरानी की अपरिसीम वेदना का तो चित्रण ही असंभव है। वेदना की ज्वाला में उनकी तो मूर्च्छा ही जल रही है। क्षणभर के लिये एक तुमुल आर्त्तनाद सर्वत्र गूँज उठता है और फिर एक भयावह नीरवता सर्वत्र छा जाती है। "नहीं रे, निश्चेष्ट होने पर भी मेरा नीलमणि जीवित है, अन्यथा अधरों पर यह स्मिति मुसकाहट कैसी ?" मैया प्रबल वेग से अपने वक्षस्थल को पीट कर आर्तनाद करती ह्रद की ओर दौड़ती हुई कूदने लगी। परन्तु बलरामजी ने पीछे से दौड़कर उन्हें अपने भुजपाश में बाँध लिया। देखो, ब्रजेश भी ह्रद की ओर छलाँग लगा रहे हैं। परन्तु बलरामजी उन्हें भी अपनी भुजाओं में रुद्ध कर लेते हैं। इधर श्रीबलराम सभी को आश्वस्त कर रहे हैं :-

"अरे, मेरे इस मकरकुण्डलधारी भाई श्रीकृष्ण के लिये क्षुद्र सर्प से भय की बात ही क्या सोचनी है ? अरे, सभी अपना दुख दूर कर दो। इस अधम

सर्प कालिय को प्राणहीन सा बनाकर मेरा यह अखण्ड प्रतापवान् भाई कृष्णचन्द्र बस उठ ही चला है ।

गोप सुन्दरियाँ, गोपगण - कोई भी ह्रद में प्रविष्ट नहीं हो पाता है। सबके आगे बलराम खड़े हैं। किसी को संकेत से, किसी के कंधे छूकर, किसी को भुजाओं में भरकर वे दूर कर देते हैं। और यह लो, एक अद्‌भुत अलौकिक तेजो-मण्डल उनके मुख को आवृत कर लेता है और मेघ-गम्भीर स्वर से वे पुकार उठते हैं :-

हंहो तात ! तातप्यमानमानसतया समेधमानेन मानेन शोकेन खेदयितव्यो दयितव्यः अयं कृष्णस्य।

भो मातः मा अतः परं विलप लपनं मे निर्द्धारय धारय धृतिं भोः।

भोः पौरजानपदाः! विपदाविस्करणेन मापरं परं संतापमाप्तुमर्हत।

अरे बाबा ! प्रतिक्षण वेग से बढते हुए इस अतिशय चिरसंतापी शोक से अपने इस शरीर को व्यथित मत करो। यह देह श्रीकृष्णचन्द्र के प्यार की वस्तु जो है, बाबा !

अरी मैया, अब तू विलाप मत कर ! मेरी बात मानले, धैर्य रखले।

अरे ओ, पुरवासियों ! अपनी अविचारपूर्वक चेष्टा से नई विपत्ति का सृजन कर किसी अन्य महान् दुख के भागी मत बनो।

'अस्य हि मदवरजस्य मदवरजस्य शौर्यस्य महिमानं हि माऽऽनंदवर्द्धनं भवन्तो जानन्ति जानाम्यहमेव केवलं केऽवलम्बन्तामरपरिवृढा अपि यल्लवावबोधम्।

हे ब्रजपुरवासियों ! मेरे इस कनिष्ठ भ्राता के शौर्य की महिमा को आप लोग निश्चय ही नहीं जानते। किसी के भी अहंकार को चूर्ण-विचूर्ण कर देने के लिये इसमें भी एक महान अहंकार की जाग्रति होती है, उसकी उस आनन्द-वर्द्धिनी महिमा से आप सब सर्वथा परिचित नहीं हैं। केवल मात्र मैं जानता हूँ। औरों की तो बात ही क्या है, ऐसे देवश्रेष्ठ भी कौन हैं, जो मेरे इस भाई की महिमा के लव मात्र का भी ज्ञान प्राप्त कर सके हों ?

"रवल्वयमनेन पुंनागेन नागेनस्य पराभवः।

'अहो ! निश्चय समझो अभी-अभी मेरे पुरुष-कुंजर भाई के द्वारा नाग प्रमुख कालिय का पराभव होने ही जा रहा है।

रोहिणीनन्दन बलरामजी के आश्वासन का प्रभाव होता है और सभी व्रजवासी कालियह्रद में प्रविष्ट होने से निवृत्त हो जाते हैं।

और वे अनन्तैश्वर्यनिकेतन श्रीकृष्णचन्द्र क्या अपने निज-जनों की यह परम दयनीय दशा नहीं देख पा रहे हैं ? इन सबका करुण क्रन्दन क्या वे नहीं सुन पा रहे हैं ? यह तो ब्रजजन के हृत्सिन्धु की, उनके भावसागर की मात्र मन्थनलीला है। उनका इतना ही उद्देश्य है कि त्रिताप से नित्य जलते हुए असंख्य प्राणियों के लिये महौषधिरूप बनकर इस सागर की कुछ बूँदें, मन्थनजात अमृत की कुछ कणिकायें प्रपंच के तट पर बिखर जायें और अनन्तकाल तक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्क आ सकें - उनकी त्रिताप-ज्वाला सदा के लिये प्रशमित हो जाय।

कालिय के लिये तो यह संभव ही नहीं है कि वह श्रीकृष्णचन्द्र को अपने कुंडली बंधन में रख सके। क्षण-दो-क्षण में ही कालिय का शरीर टूटने लगता है। कुंडली का एक-एक आवरण टूट जाता है। निरुपाय कालिय को उन्हें छोड़ना ही पड़ता है।

इस सभी व्रजपुरवासियों के जीवन-शून्य से हुए शरीर में प्राण-संचरित हो उठे। रोहिणीनन्दन की बात सत्य होने में किसी को भी अब सन्देह नहीं रह गया। बिचारे कालिय के बल की तो एक सीमा है। अनन्त अपरिसीम बलशाली से होड़ करके वह कब तक टिक सकता था। देखते-देखते उसकी सम्पूर्ण शक्ति समाप्त हो गयी। वह अत्यंत श्रान्त हो गया। उसे दीर्घ निश्वास आने लगे। आसन्न मृत्यु जैसी उसकी दशा हो गयी। हाँ फन उसके ऊपर ही उठे थे, जिनकी ओट से अभिमान स्पष्ट रूप से झाँक रहा था। मदोन्मत्त कालिय स्वयं नतमस्तक नहीं हो सका, न सही, श्रीकृष्ण अपना चरण-स्पर्श-दान कराने को स्वयं आतुर हो उठे। ऊपर उठे कुछ फनों पर उन्होंने एक अत्यंत हलकी सी थपकी लगायी। कालिय के उन्नत फन उस भार से नमित हो गये। पलक गिरते-न-गिरते नील सुन्दर उन झुके हुए सुविस्तृत फनों के छत्ते पर अनायास ही उछलकर चढ़ गये।

देव-वृन्द के आनन्द का पार नहीं रहा है। ऐसे अत्यन्त अधम सर्प को भी श्रीकृष्ण अपनी कृपा का अयाचित दान दे सकते हैं - यह प्रत्यक्ष देखकर 'जय-जय' के नाद से अन्तरिक्ष नादित हो उठा।

अहा ! इन मृदुल चरणों की शोभा कैसी है ! अरे, गोपी बने श्रीकृष्ण कालिय बनी गोपी की ओढनी-रूपी छत्र पर कैसे चढ़ पावेगी ? अतः नृत्य नहीं हो सका न सही।

देखो ! नागपत्नियाँ बनीं गोपियाँ प्रार्थना कर रही हैं- हे परम दयालो ! इस सर्प का प्राणान्त बस हो ही चला है, कृपा करो, कृपा ! नाथ !! अब विलम्ब मत करो। प्राणतुल्य हमारे पति को हमें भिक्षा में दे दो। दयामय !

लो, कालिय भी वृजराज के समक्ष हाथ जोड़कर स्तवन करने प्रस्तुत हो गया है। "नाथ । महामहेश्वर हम जन्म से ही अत्यन्त दुष्ट हैं। परपीड़ा हमारा जन्मसिद्ध स्वभाव है। जीवमात्र के लिये अपने स्वभाव का परित्याग करना कठिन जो है, नाथ ! बस, आप ही बचा सकते हो, नाथ ! सर्वेश्वर रक्षा करो !!

लो ! नन्दनन्दन कालिय को निर्देश देते हैं - कालिय देख ! अब तुझे इस ह्रद में मेरे इस लीला-क्षेत्र में निवास नहीं करना है। अब यमुना जल का उपयोग व्रज की गायें और व्रजपुरवासी ही करेंगे। जा, अब तुझे मेरे गरुड़ से कोई भय नहीं होगा।

नतमस्तक हुए कालिय ने व्रजेन्द्रनन्दन का आदेश स्वीकार कर लिया। नागवधुओं की आँखें झर-झर झर रही हैं। प्रेम-विह्वल कालिय कृष्णचन्द्र के चरणों में गिर पड़ा है। "देखो ! कालिय नन्दनन्दन का श्रृंगार एवं पूजा कर रहा है। देखो ! नन्दनन्दन कैसे दिव्य नागमणियों से भूषित सिंहासन पर विराजित हैं। दिव्यातिदिव्य मृगमद, कुंकुम, चन्दन आदि से उनके समस्त अंगों को कालिय विलेपित कर रहा है। उसे कितना परिताप है । वह अपने दंशित स्थलों की वेदना हरण करने के लिये श्रीकृष्ण के अंग-अंग को चाट रहा है। वह अपना समग्र विष पुनः हरण कर रहा है। अंग-अंग को निर्विष कर रहा है।"

अब व्रजेन्द्रनन्दन को नागपत्नियाँ पद्मरागादि मणियों के रत्नहार पहना रही हैं। देखो ! नागलोक के पुष्पों की सौरभमय पुष्पमालायें अब वे धारण करा रहीं हैं। अमूल्य अलंकारों से श्रीअंगों को अलंकृत कर रही हैं। देखो ! अहा ! यह शोभामय कमलमाला कितनी सुन्दर है, इसके पश्चात अर्चना के असंख्य उपचार कालिय ने व्रजेन्द्रनन्दन को समर्पित किये।

अब विविध श्रृंगार से सुशोभित श्रीकृष्णचन्द्र तट की ओर आ रहे हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र बनी गोपी इस गंभीर यमुना जलराशि पर इस प्रकार चरण रख कर आ रही है मानो वह स्थल हो। सबसे पहले सुबल और श्रीदाम दोनों ही विद्युत वेग से दौड़कर नीलसुन्दर के समीप आये और उन्हें अपने भुजापाश में भर लिया। स्नेह के उस स्रोत में असंख्य गोप बालक यही अनुभव कर रहे हैं कि सबसे पहले मुझे ही कन्हैया भैया ने अपनी भुजाओं में भरा है। इतने में जननी यशोदा आयी। ओह ! वाग्वादिनी में कहाँ सामर्थ्य है कि चित्रित कर दे - मैया एवं उसके लाल के मिलन की भावराशि का। वह बस, इतना ही कह सकी -

मन सँग हिय अगवानि करि जननी लये तट लाइकैं।
पय स्रवत, आँसू ढरत, अंक गुविंद भेंटे धाइकैं !!

अब रोहिणीजी ने नीलसुन्दर को वक्षस्थल में लगाया। व्रजेश्वर अब तक मानो प्रतीक्षा सी कर रहे थे। परमशीलवान् व्रजेन्द्र के धैर्य का बाँध टूट गया। वे तो अधीरतावश स्त्रीसमूह में ही प्रविष्ट हो गये और श्रीकृष्ण को अपने अंक में भर लिया।

गोपसुन्दरियाँ यद्यपि प्रत्यक्ष रूप से व्रजेन्द्रनन्दन को अपने वक्षस्थल पर धारण नहीं करसकीं, फिर भी अपने दृगञ्चल के पथ से उनका मानस-मिलन संघटित हुआ ही। उनके भी मनोरथ पूर्ण हुए।

रोहिणीनन्दन बलराम तो दूर अवस्थित रहकर मन्द-मन्द मुसकाते हुए सबके मिलन-सुख का आनन्द ले रहे थे। किन्तु अग्रज अनुज का मिलन भी अनिवार्य है। देखो ! दाऊ भैया ने लपक कर अनुज को वक्षस्थल में धारण कर लिया। उनके मुख-कमल पर दिव्य हास्य भरा है, वे हँस रहे हैं।

अग्रज से मिलने के बाद श्रीकृष्णचन्द्र की दृष्टि मूक पशुओं की ओर जाती है। सभी गायें, वृषभ, वत्स, चित्रलिखे हुए से, निष्पन्द-मुग्ध से अवस्थित हैं। सभी नीलसुन्दर का कुशल जान लेना चाहते हैं - "हमारे जीवनाधार ! कालिय के द्वारा तुम्हें चोट तो नहीं लगी ?"

देखो ! देखो ! जगत के जीवों ! देखो ! जिस समय श्रीकृष्ण असंख्य धेनुराशि से मिल रहे हैं, उस समय उनके चरण-सरोरुह ह्रद की उस विष-दग्ध तट-भूमि को पावन चरण-स्पर्श दान करते जा रहे हैं -- और इसका तत्क्षण परिणाम देखो - अद्भुत हरीतिमा वहाँ व्यक्त होने लगती है। यह जला हुआ स्थल-देश मनोहर तृण-संकुल श्यामल बन जाता है। इतना ही

नहीं, हृद की सीमा से पार के वृक्ष भी जो विष की ज्वाला से झुलस गये थे, वे भी नीलसुन्दर की दृष्टि से ही पुष्पित हरित हो जाते हैं। इसी प्रकार तुम्हारी अनन्त काल से कामविष से दग्ध हृदय-भूमि भी बस एक बार उनके चरण धूलि से यदि संपर्कित हो गयी, तो सदा-सदा के लिये सुख में निमग्न हो जायगी।

सबका मिलन सम्पन्न हो गया, अब श्रीकृष्ण पुनः अपनी माता के पास आ गये हैं। अपने लाल को हृदय से लगाकर माता ने क्रोड़ में धारण कर लिया है। बाल्य-लीला-विहारी अपनी माँ की ठोड़ी छूकर अति मधुर स्वर में उसे प्रबोध दे रहे हैं :-

कंस कमल मँगाइ पठये, तातैं गयउँ डराई।
मैं कह्यौ निसि सुपन तोसौं प्रकट भयौ सु आइ।
ग्वाल सँग मिलि गेंद खेलत आयो यमुनातीर।
काहु लै मोहि डारि दीन्हौ कालिया-दह-नीर।
यह कही तब उरग मौसौं किन पठायौ तोहि।
मैं कही नृप कंस पठयौ कमल कारन मोहि।
यह सुनत डरि कमल दीन्हौं, लियो पीठ चढाइ।
सूर यह कहि जननि बोधी देख्यौ तुमहीं आइ'।

प्रभु की शिशु-सुलभ परम-रसमय सरल वचनावली की जय हो !

इधर भुवनभास्कर का रथ अस्ताचल को स्पर्श करने लगा है। व्रजेन्द्र नन्दराय चिन्तित हैं- "इतने बड़े समुदाय के साथ ब्रज में पहुँचते-पहुँचते अर्धनिशा हो जायगी"- यही उनकी चिन्ता का विषय है। अन्ततः निश्चय हुआ कि आज यहीं यमुना तट पर ही विश्राम किया जाय। सबके घर-घर से षटरस के भोजन पक्वान्न वहीं आ गये हैं। वहीं भोजन हुआ और थके थकाये सब गोप एवं समस्त नन्दग्राम की प्रजा, व्रजेश्वर-व्रजरानी रोहिणी मैया सहित अपने राम-श्याम को लेकर तन्द्रित हो गये।

फूँक से दावानल-मुक्ति

अर्ध निशा हो गयी। महामायावी दानव दावानल आ पहुंचा। क्षण भी नहीं लगा, गीष्मऋतु की वह शुष्क वनस्थली दावाग्नि के रूप में धधक उठी। सम्पूर्ण ब्रजपुरवासी, गायें अपनी भाव-समाधि में लीन हैं, उन सम्पूर्ण ब्रजपुरवासियों को सब ओर से घेर कर सर्वथा भस्म कर देने के लिये महावीर दावानल जल उठा। एक तुमुल कोलाहल आरंभ हुआ। प्राण रक्षा की आशा नहीं। कदाचित् रविनन्दिनी की शीतल धारा के पास तक पहुँचा जा सके। परन्तु वह भी संभव नहीं, चारों ओर ही आग की भीषण लपटें उठ रही हैं। कितना भयंकर दृश्य है। इसी समय अचानक सबकी मनोवृत्ति में एक अद्‌भुत् सी प्रेरणा भावित हो उठी :-

"अहा, हमारे प्राण-संकट के समय इसी बालक नन्दनन्दन में ही तो महाप्रभु नारायण आविष्ट हो जाते हैं ! क्यों न हों, अब इस समय इस बालक में ही हम लोग नारायण की भावना करके इसी की शरण ले लें। फिर तो सभी ब्रजवासी पुकार उठे :- "हे कृष्ण ! हे महाभाग श्रीकृष्ण ! हे सर्वसामर्थ्यशालिन् ! हम सब अपने आत्मीयजनों की, सुहृद् समुदाय की रक्षा करो।"

ब्रजराज भी अपने पुत्र में आविष्ट हुए नारायण देव की कृपा-याचना करने चले अवश्य, परन्तु उनकी भाषा सर्वथा बदल गयी। भाव कुछ के कुछ हो गये। गद्‌गद कण्ठ से वे इतना ही कह सके :- "अहा, मृत्यु से डर नहीं, विपत्तियों का प्रवाह चलता रहे, इससे भी भय नहीं। परन्तु तुम्हारे मुखचन्द्र की किरणों के दर्शन का अभाव हो जाय - इस यंत्रणा का ही भय है।" ब्रजरानी तो नारायण की भावना करने से रहीं। वे तो इसी चिन्ता में हैं -

कैसेहुँ ये बालक दोउ उबरैं, पुनि-पुनि सोचति परी खभारे।

अब नींद खुली व्रजेन्द्रनन्दन की। वे तत्क्षण उठ बैठे। अहा ! आलस्य भरे श्री अंगों की शोभा कैसी देखते ही बन रही है। नयन विजड़ित हैं। पलकें गिरती जो नहीं। जननी की अन्तर्व्यथा का असह्य भार पुत्र के अन्तस्तल पर ज्यों-का-त्यों सरक आया। श्रीकृष्णचन्द्र के नयन-सरोजों में एक कम्पन हुआ, होठ भी किंचित् से हिल गये। जैसे फूँक लगने से एक तुच्छ दीप बुझ जाय। इस प्रकार उनके अधरों से निसृत मन्द सुरभित फूत्कार के द्वारा महा प्रचण्ड दावाग्नि तत्क्षण शान्त हो गयी।

सर्वत्र लीलाओं की अनुकृति

देखो ! यहाँ श्रीकृष्ण की आँखमिचौनी लीला हो रही है। सखी ही श्रीकृष्ण बनी है, और सखियाँ ही उनके सखा। देखो यहाँ व्रजेश्वर बनी गोपी श्रीकृष्ण को भोजन के लिये ला रही है। स्मित-समन्वित मुखारविन्द के दर्शन मात्र से प्रमुदित चित्त हुए व्रजराज के साथ वे एवं बलरामजी भोजन कर रहे हैं।

और यहाँ देखो ! व्रजेश्वरी कण्व ब्राह्मण के सम्मुख रो रही हैं - "देव ! इस बालक को क्षमा करें। और कन्हैया को तो न माँ का भय है, ना ब्राह्मण का। वे तो अपने बंकिम नेत्रों को इधर-उधर संचालित करते हुए हाथ से खीर उठा-उठाकर खा रहे हैं। और इष्टदेव के लिये जिस आसन की कण्व ने परिकल्पना की थी, उस पर वे विराजित हैं। और यहाँ यशोदा चकित हुई श्रीकृष्ण के मुख को खोलकर देख रही है और उन्हें सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड अपने कन्हैया के मुख में दिख रहा है।

व्रजरानी की श्वास-गति अत्यंत तीव्र हो गयी। सारा शरीर थर-थर काँपने लगा है। और वे अपनी सखी धात्रियों के सम्मुख बोलती ही जा रही हैं - "ओह ! मैंने सुस्पष्ट देखा है, नीलमणि के छोटे से मुख-विवर में झाँककर देखा है - वहाँ नीला अनन्त आकाश - महाकाश है। स्वर्ग है, पृथ्वी है, दिशायें हैं, सूर्य है, चन्द्र है, अग्नि है, वायु है, समुद्र है, द्वीप पुञ्ज हैं, पर्वत-मालिकाएँ हैं, नद-नदी समूह हैं, अरण्य श्रेणियाँ है, चराचर अनन्त प्राणी हैं; अरे ! नीलमणि के छोटे से मुखविवर में मैंने सम्पूर्ण विश्व को देखा है।

और यहाँ देखो, यमुना के रजत सैकत तट पर खेल हो रहा है। श्रीदाम सखा बनी गोपी खड़ी है, पीछे से दौड़कर भागते श्रीकृष्ण आते हैं और श्रीदाम भैया के कंधे पर चढ़ जाते हैं। श्रीदाम को सहारा देने उसके बायें एवं दाहिने दो सखा और खड़े हो जाते हैं और लो, तोककृष्ण श्रीकृष्ण के कंधे पर खड़ा होने की चेष्टा कर रहा है। श्रीकृष्ण ने उसे कंधे पर चढ़ा लिया है और लो, श्रीकृष्ण ने उसे अपने कंधे से उछाल दिया। उछलते हुए उसने एक कदम्ब की टहनी पकड़ ली और उस पर झूल गया है, सखा मण्डली नीचे से सरक गयी है, और तोक कदम्ब पर लटका रह गया है। तोक कदम्ब पर झूल रहा

है, श्री कृष्ण के उल्लास की सीमा नहीं है। सभी ताली पीट-पीट कर हँस रहे हैं। सहसा तोक हाथों के बल झूलता कदम्ब की डाली पर चढ़ गया है और बंदर की तरह सब सखाओं पर खों-खों करता, झपटने की मुद्रा दिखा रहा है।

देखो, यहाँ विलक्षण लीला हो रही है। गोपियाँ यशोदारानी को उलाहना देने आयी हैं - कल भी एक गोपी उलाहना देने आयी थी। श्रीकृष्ण ने उसकी गोशाला में जाकर दुहने के समय के पूर्व ही बछड़ों के बन्धन खोल दिये थे, परन्तु वह ज्यों ही मुख खोलने लगी कि श्रीकृष्ण आकर सीधे उसकी गोद में बैठ गये। अब तो वह गोपी ऐसी फँसी कि सब भूल गयी। नन्दरानी को कुछ भी बताये बिना वह गुन-गुन करती लौट गयी। यशोदा आश्चर्य में डूबी उसकी ओर देखती ही रह गयी।

आज तो दल की दल गोपियाँ आयी हैं। देखते-ही-देखते नन्दप्रांगण भर गया है। नन्दरानी को अति विस्मय है कि बिना निमंत्रण के इतनी गोपियाँ कैसे चली आयी हैं। एक आश्चर्य की बात यह है कि प्रत्येक को यह अनुभव है कि मैं नन्दरानी के अत्यंत समीप बैठी हूँ।

देखो, एक कह रही है - "नन्दरानी ! ब्रज तो तुम्हारा राज्य है, नीलमणि तुम्हारा पुत्र है। अत: मैं इसका दोष बताऊँ तो तुम रुष्ट मत होना। तुम्हें आश्चर्य होगा कि अब ब्रजपुर के कितने ही घरों में गोदोहन नहीं होता। गायों के थनों में दूध बचे, तब न गोदोहन हो। यह अकेला नहीं शताधिक बालकों को साथ लिये आता है। हम सब जान भी नहीं पातीं कि कब कैसे पहुँच जाता है। वहाँ जाकर जितने बछड़े होते हैं, सबकी रस्सी खोल देता है। हमें समाचार मिले इसके पहले सब बछड़े दूध पी चुके होते हैं। यदि हम क्रोध करें तो यह हँस देता है। इसकी हँसी में ऐसी मोहिनी होती है कि सारा हमारा क्रोध शान्त हो जाता है और हम भी हँसने लगती हैं।"

दूसरी कहती है - स्वाभाविक ही यही किसी अपने सखा को भेजकर सूचित करवाता है कि बछड़े खुल गये हैं, और जैसे ही हमने गोशाला की ओर चरण बढ़ाये यह हमारे घर में प्रवेश कर जाता है। हमारे गृह को जनशून्य बनाने के लिये वत्समुंचन इसका उद्देश्य होता है। अब तो हमारे घरों में जितना भी दधि, दुग्ध, नवनीत आदि वस्तुएँ होती हैं उनको लेकर यह सखाओं के साथ पहले तो भोजन करता है और फिर सब वस्तुएँ बन्दरों को, पक्षियों को, वितरित कर देता है। चौर्यकला का तो यह कफल्लक मुनि से भी अधिक

आचार्य है। अरी नन्दरानी ! वैसे यह हमारे घर के आगे से निकले और हम इसे माखन खाने का आग्रह करें, तो यह यही उत्तर देता है - "बडी नवनीत खिलाने वाली आयी, क्या मेरे घर नवनीत नहीं है, जो तेरे घर खाने आऊँ ?"

इतने में तीसरी कहती है - "अरी ! यह स्वयं चाहे जितना खावे, अपने सखाओं को खिलावे, वह भी सह्य हो जाय, परन्तु यह तो असंख्य वानरों को मक्खन लुटाता है। ये वानर खाते-खाते जब उपरत हो जाते हैं तो यह अपने सखाओं को कहता है - 'इस गोपसुन्दरी के गृह के नवनीत-दधि आदि स्वादिष्ट नहीं हैं, तभी तो इन्हें वानर भी नहीं खा रहे। यह फूहरी गोपी है। यह माखन बिलोना नहीं जानती।' और यह कहकर हमारे सब नवनीत-दधि-दुग्ध-भाण्ड यह फोड़ डालता है।"

अरे, अरे देखो ये नन्दनन्दन तो आ गये। अपनी मैया से ये कैसी मधुरातिमधुर बातें बना रहे हैं - जरा ध्यान देकर सुनो तो ...."अरी मैया ! तू जानती नहीं और जब तू ही नहीं जानती तो ये सब फूहड़ व्रजगोपियाँ क्या जानेंगी ? उस दिन की बात ! अरी मैया, मेरा तपस्वी वेश था। ये बलराम भैया भर मेरे साथ थे। मेरे पास परिग्रह का सर्वथा अभाव था, प्रिया-वियोग से मेरे प्राण अति व्यथित हाहाकार कर रहे थे। यदि ये वानर, भालू और इनका राजा सुग्रीव नहीं होता, मेरे पास साधन ही क्या था ? मैया री, उस दिन प्रत्येक वानर मेरा सैनिक था। उस दिन तो इन वानरों ने मेरे से अपना पारिश्रमिक भी नहीं माँगा था। और तो क्या, उनकी उदर-पूर्ति भी मैं नहीं कर सकता था। वे स्वयं ही वन्य फलों का संचय करते, अपने तो खाते ही, स्वयं मुझे भी ये ही खिलाते थे। अत: इनको माखन न खिलाऊँ तो मैया, ऋण कैसे उतरेगा री। इसीलिये अपनी प्रिय भोज्य वस्तु नवनीत इनको बाँटता हूँ री। इसमें उलाहने की कौन बात है ? अरी मैया ये गोपियाँ चोर हैं। मेरे घर को अपना मान बैठी हैं। ब्रज का प्रत्येक घर मेरा है और ब्रज की प्रत्येक गैया भी मेरी है। अपने घर की समस्त वस्तुएँ, चाहे लुटाऊँ या रखूँ इसमें उलाहने की कौन बात है ?"

निरे छोटे से बालक के मुख से ऐसी बातें सुनकर यशोदा के मुख पर अत्यन्त विस्मय एवं मन्द-मुसकान छा जाती है। मैया यशोदा दुग्ध, नवनीत एवं दधि की शत-शत मटकियाँ दासियों से उठवाकर आँगन में रखवाती हैं

और सभी गोपियों से जिसके घर जितनी हानि हुई है तौल-तौल कर ले जाने की प्रार्थना करती हैं।

लीलासिन्धु व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की अनादि अनन्त लीलाओं में किसी एक लीला का भी - उसके किसी स्वल्पतम अंश का भी 'अथ' 'इति' निर्देश कर देना कि यहाँ इसका आदि है और यहाँ अन्त है, यहाँ इसका आरंभ है और यहाँ इसकी परिसमाप्ति हुई, इस प्रकार इत्यंभूत रूप निर्धारित कर देना आजतक किसी के लिये भी संभव नहीं हुआ, अनन्त काल तक किसी के लिये होगा भी नहीं। इस अपरिसीम महासिन्धु में कहाँ किस समय कौन सी ऊर्मि उठी और कहाँ कितने काल के अनन्तर वह विलीन हुई - यह आज तक किसी ने नहीं जाना। यहाँ, उनके स्वरूपभूत वृन्दाकानन में प्राकृत अवच्छेद नहीं, प्राकृत कालमान नहीं। लीलानिर्वाह के लिये यहाँ वस्तुएँ भी है और प्रतीयमान काल-नियंत्रण भी है अवश्य, परन्तु वे सबके सब सर्वथा सच्चिदानन्दमय है। इन्हीं शब्दों में यत्किञ्चित् हम उस अप्राकृत सत्ता को शाखाचन्द्रन्याय से हृदयंगम कर सकें तो भले कर लें।

गोपियाँ इस प्रकार लीलाओं के अनन्त अगाध सिन्धु में अवगाहन करतीं हुई तन्मय हो रही थीं, अचानक उनमें से किसी समूह को प्रियतम चरणों के चिह्न वन में एक दिशा की ओर जाते दृष्टिगोचर हो जाते हैं। अहा ! सभी चिह्न अंकुश, कमल, कलश, ध्वजा, सभी स्पष्ट जगमगा रहे हैं। जिस चरण रज को शिव, ब्रह्मा, सनकादि, नारद एवं अनन्त योगीजन खोजते थक जाते हैं, उस रज को गोपियाँ अपने हृदय के ताप के नाश के लिये अपने वक्षस्थलादि सभी अंगों में मल रही हैं।

अहा ! अचानक उन चरण चिह्नों के साथ ही गोपियों को एक महा सौभाग्यवती रमणी के चरण-चिह्न भी परिलक्षित हो जाते हैं। गोपियों ने तुरन्त अनुमान भी कर लिया कि वह विश्व-विमोहन-मोहिनी सुन्दरी कौन है जिसे उनके प्रियतम अपने संग ले गये हैं।

पुनि निरखे ढिंग जगमगात पिय प्यारी के पग
चितै परस्पर चकित भई जुरि चलीं तिहीं मग !!

अहा ! यह परम सौभाग्यवती युवती प्रिया किशोरीराधा ही हैं जिसके त्रैलोक्य-विमोहन रूप के प्यासे हुए प्रियतम उसे एकान्त में ले गये हैं। अब

तो पद-चिन्हों की ऐसी भंगिमायें मिल गयीं, जिससे प्रिया के संग संग प्रियतम ने जो जो विहार किया उसकी स्पष्ट झाँकी परिलक्षित हो रही थी।

वे परस्पर बातें करने लगीं - "अरी देख न ! इन पद-चिन्हों में प्रिया की मात्र अंगुलियाँ ही हैं, पीछे की ऐडी आदि है ही नहीं, इससे यह स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि यहाँ नीलसुन्दर के कंठ से लिपटी प्रिया ने उनके अधरों का पान किया है।"

अनेक गोपियाँ जो आगे बढ़ गयीं थीं उन्होंने एक पल्लवों की कुंज देखी जहाँ सर्वत्र पुष्प मालायें और पुष्प-गुच्छ बिखरे थे, इससे यही प्रतीत हो रहा था यहाँ प्रियतम ने प्रिया की वेणी गूँथी हैं। अरे ! किसी गोपी को एक लता जाल मे अवस्थित आरसी भी मिल गयी। उसने सखियों को आरसी दिखाते हुए चकित दृष्टि से जिज्ञासा की। सखि ने उत्तर दिया -

बैनी गूँथन समै छैल पाछै बैठे जब
सुन्दर बदन विलोकन सुख को अन्त भयौ तब
तातैं मंजुल मुकुर सुकर लै बाल दिखायो।
श्रीमुख को प्रतिबिंब सखी तब सम्मुख पायो।

अब एक परम बुद्धिमान गोपी चरणचिन्हों से अनुमान कर-कर के सम्पूर्ण विहार-लीला जो प्रिया प्रियतम में घटित हुई है, उसका चित्र खींच रही है। उसके मन में तनिक भी मात्सर्य अथवा सापत्न्यजन्य कोप नहीं है। गोपी कह रही है - "अरी बहिनो ! यह सखी कितनी सौभाग्यशालिनी एवं सुन्दरी है कि यह जहाँ-जहाँ गयी है सौन्दर्य अधिष्ठातृ के कोश में जितनी शोभाराशि है उसने सभी वहाँ बिखेर दी है। अरी ! इस महासौभाग्यवती ने निश्चय ही अनन्त पुण्य किये हैं तभी न, यह यहाँ एक तनिक सी लता ओट देकर निर्बाध प्रियतम का अधर-रस-पान करती रही है। देख री, ये चरण-चिन्ह स्पष्ट संकेत कर रहे हैं कि यह सलोनी जिधर चरण निक्षेप करती है, प्रियतम इसके पीछे-पीछे उधर ही चल पड़ते हैं। अरी, इस माहाभागा की सौन्दर्य स्रोतस्विनी ने प्रियतम को पूर्ण रसावगाहन कराया है री।

उन गोपियों ने थोड़ा ही पथ पार किया होगा कि उन्हें वह गोपी भूलुण्ठित कंचन लतिका सी दिखाई पड़ जाती है। कवि ने कैसा सुन्दर वर्णन किया है -

घन तैं बिछुरी बीजुरी जानु मानिनि तन काछैं।
किधौं चन्द्र सौं रूसि चन्द्रिका रह गयी पाछैं

नैनन तें जलधार हार धोवत धरि धावत।
भँवर उडाइ न सकत वास बस मुख ढिंग आवत।
क्वासि क्वासि पिय महाबाहु यों बदत अकेली।
महा विरह की धुनि सुनि रोवत खग-मृग-बेली।
ता सुन्दरि की दसा देखि कछु कहत न आवै।
विरह भरी पूतरी होइ तौं कछु छबि पावै।

गोप सुन्दरियाँ आश्चर्यचकित थीं। शास्त्र कहते हैं - "ना मयूखमालि-मालिन्यं तमसा कर्त्तुं प्रभूयते" "अहो ! किरणमाली सूर्य में मलिनता का संचार कर देना तम के लिये संभव ही नहीं है, फिर इस महासुन्दरी महा-महा-प्रेममयी को कोई नायक विरहावृत कर सके, एवं त्याग दे, यह कैसे संभव है ? यह सुन्दर कोमलांगी तो नयनों में रखने लायक साक्षात् शोभादेवी है, इसको यहाँ ऐसे भीषण वन में अकेली छोड़कर वह निष्ठुर कपटी चला गया, विधाता ! ऐसे क्रूर पुरुष की रचना भी क्या तेरे द्वारा संभव है ?

गोपियाँ मन ही मन प्रियतम श्यामसुन्दर की भर्त्सना करने लगती हैं।

सचमुच ही ये गोपियाँ प्रेम की अधीश्वरियाँ हैं। इस सखी की विरह दशा को देखकर वे अपना अमिलन दुख सर्वथा सर्वांश में भूल गयीं। यद्यपि इस गोपी से उनकी हृदय की विरह-व्यथा किसी भी प्रकार न्यून नहीं है, उनका हृदय भी प्रियतम-विरह में फटा जा रहा है, सर्वांगों में प्रियतम-प्रेम की अग्नि धू-धू जल रही है, उनके नेत्र भी निरन्तर बरस रहे हैं, फिर भी इस नव विरहिनी को यत्किंचित् सान्त्वना देने का वे सभी उपाय करने लगीं। पर-दुख में वे अपने दुख को सर्वांश में विस्मृत कर गयीं। कवि नन्ददास कहते हैं -

धाइ भुजन भरि लई सबनि लै-लै उर लाई।
मनो महानिधि खोइ मध्य आधी निधि पायी।
कोउ चुंबत मुखकमल कोउ भ्रू, भाल, सुअलकैं।
जामें पिय संगम के सुन्दर श्रमकन झलकैं
पौंछत अपने अंचल रुचिर दृगंचल तिय के।
पीक-भरे सुकपोल लोल-रद छद जहँ पियके।
तिहिं लै तहँ ते अउरि बहुरि यमुना तट आयीं।
नंदनँदन जगबंदन पिय जहँ लाड़ लड़ाई।

गोपियों की अन्तस्तल की विरह-ज्वाला प्राण-हारी ज्वाला से कहीं अधिक विषम है, परन्तु प्रियतम-स्मृति-रूप-अमृत की बूँदे उनके हृदय में जो अनवरत पड़ रही हैं, उसी से वे जीवित हैं। अन्यथा तो उनके प्राण कबके उनके तन को छोड़कर अपने प्रियतम के चरणों में लीन हो गये होते।

और वे अनंत प्रेमनिकेतन उनके प्रियतम से गोपियों का यह विरह-ताप क्या अज्ञात है ? क्या वे अपनी प्रेमिकाओं की इस विरह-जन्य दयनीय दशा का अनुभव नहीं कर रहे हैं। क्या वे इन गोपियों को त्याग कर कहीं दूर जा सकते हैं ? नहीं, नहीं, इन गोपांगनाओं की तो चरण-धूलि ही प्रियतम-मिलाप की अमोघ दवा है। इनके रोम-रोम में अणु-अणु में कृष्ण ही कृष्ण भरे हैं। ये कृष्णमयी हैं, ये कृष्णात्मिका हैं, ये प्रियतम-प्राण-सार-सर्वस्वा हैं।

जिनके कपड़े गहने श्री कृष्ण हों, जिनके श्वास-प्रश्वास श्रीकृष्ण हों, जिनके ममता-मान, भोग्य, भोक्ता एवं सब भोग श्रीकृष्ण हों, वे श्रीकृष्ण से विलग कहाँ कैसे संभव हैं ? जिनके कर्ता श्रीकृष्ण हैं, कर्म ही श्रीकृष्ण हैं, और कर्तव्य श्रीकृष्ण हैं, जिनके तन, मन एवं धन सब कुछ उनके प्रियतम हों, वे प्रियतम वियोगिनी हों, यह भला कैसे संभव है ? जिनके धर्म मात्र श्रीकृष्ण हों, जिनकी प्रकट विभूति श्रीकृष्ण हों, जिनके भूत, भविष्य एवं वर्तमान के सब ऐश्वर्य श्रीकृष्ण हों, जिनके लोक-परलोक, बन्धन-मोक्ष, गति-दुर्गति सभी श्रीकृष्ण हों, उनसे उनके वियोग की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती।

उनके नेत्र तो समाये हुए हैं अपने प्रियतम के मुख सरोज में ही, किसी कवि ने उनकी कैसी दयनीय दशा का चित्रण किया है :-

कृष्ण मुखारविन्द दृग दीने, रोवहिं विह्वल बदन मलीने।
वारिज लोचन मोचहिं बारी, संतत हिय जहँ वसत मुरारी।
कहि-कहि ललित गुपाल-गुन, ब्रज कीने जे ख्याल।
भूली तन सुधि मनहुँ सब मुई सकल ब्रजबाल ।।

अरे भाई ! यह प्रेम-सागर के ज्वार-भाटे हैं। ये तरंगें तो जो प्रेम करेगा या जहाँ प्रेम होगा वहाँ नित्य ही उठेंगी। अरे ये तो अमृत की कणिका हैं। प्रियतम श्रीकृष्ण ठीक जान रहे हैं कि गोपियों की अमिलन-जन्य-विरह-ज्वाला इतनी नहीं बढ जाय कि उनके कलेवर को ही भस्म कर दे, फिर निरावरण

वे अपने प्राणाधार को प्राप्त कर लें - अत: वे उनके मध्य स्थूल रूप में प्रकट होने के पूर्व उनके हृदय में प्रकट होते हैं। गोपियाँ अपने प्रियतम की स्पष्ट छबि अपने हृदय में देखती हुईं बोल उठती हैं। उनकी वाणी, अमृत की कणिकाएँ श्रीमहाभाग शुकमुनि आदि के द्वारा प्रपंच के तट पर बिखरा दी गयी हैं, जिससे अनन्त काल तक जो भी सौभाग्यशाली प्राणी इनके सम्पर्क में आ जावें, उनकी त्रिताप ज्वाला सदा के लिये प्रशमित हो जाय।

गोपियाँ विरहावेश में कहती हैं -

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रज: श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।
दयित दृष्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते ।।

प्राणवल्लभ ! सुना था कि लक्ष्मी चंचला होती है। वह दीर्घकाल तक एक स्थान पर रहती नहीं। परन्तु जबसे तुम्हारा (जन्म) आगमन इस व्रज में हुआ है, तबसे तो हमनें वसन्त की श्री शोभादेवी को, ऐश्वर्य की श्री अनंत सुख-सम्पदा को, विजय श्री अपने निजजनों के सर्वविधि उत्कर्ष को - सभी श्रियों को यहीं स्थायी निवास करते पाया है। इसीलिये इस व्रज की शोभा वैकुण्ठ से भी बढ़कर हो गयी है। हमने तो अपने प्राण तुम्हारे युगल-चरणों में ही समर्पित कर रखे हैं। हम तुम्हें वन-वन में भटकती खोज रही हैं।

शरदुदाशये साधुजातसत्सरसिजोदरश्रीमुषादृशा।
सुरतनाथ तेऽशुल्क दासिका वरद निघ्नतो नेह किं वध: ।।२।।

हे हमारे प्रेमपूर्ण हृदय में निवास करने वाले स्वामी ! हम तो तुम्हारी अशुल्क दासी हैं, बिना मोल बिकी हुई हैं। तुमने अपने उन नेत्रों से हमें घायल कर दिया है, जो शरत्कालीन जलाशयों में खिले सुन्दर से सुन्दर सरसिजों की शोभा को चुराने वाले हैं। हे वरद ! मनोरथ पूर्ण करने वाले प्राणेश्वर ! क्या स्नेह कटाक्षों से मारना वध नहीं है ?

विषजलाप्ययात् व्यालराक्षसाद् वर्षमारुताद् वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद् विश्वतोभयादृषभ ते वयं रक्षिता मुहु: ।।३।।

हे पुरुष शिरोमणि ! (यदि हमें मारना ही तुम्हें अभिप्रेत था तो) फिर यमुनाजी के विषैले जल से (कालियनाग नाथ कर) अजगर के रूप में खाने वाले अघासुर से, इन्द्र की कोपजन्य वर्षा से, आँधी (तृणावर्त से), बिजली (इन्द्र के द्वारा वज्रपात से) अनल (दावानल से), वृष (वृषभासुर से) और व्योमासुर(मयात्मज) आदि से बार-बार भिन्न-भिन्न अवसरों पर आपने हमारी रक्षा ही क्यों की ?

न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिल देहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले ।।४।।

सखे ! हम भली प्रकार जानती हैं कि तुम केवल यशोदानन्दन ही नहीं हो। क्योंकि यदि तुम साधारण गोपी-प्रसूत बालक ही होते तो तुम्हारे प्रथम दर्शन के समय ही तुम्हारी अनन्त, असीम, अनिर्वचनीय सुन्दर शिशुमूर्ति का दर्शन करने भर से हमारा बाह्यज्ञान सर्वथा लुप्त सा नहीं हो जाता। हमने प्रथम दर्शन में ही ठीक जान लिया था कि तुम विश्व की रक्षा के लिये ब्रह्माजी की प्रार्थना पर ब्रज में एवं यदुवंश में प्रकटे हो। क्योंकि किसी भी बालक के अंग इतने स्वच्छ नहीं होते मानो उत्कृष्ट नवनीलकान्तमणि के अंकुर हों, इतने मृदुल भी नहीं होते मानो नवतमाल के तरुपल्लव हों, इतने स्निग्ध नहीं होते मानो वर्षणोन्मुख नवजलधर हों एवं इतने सुरभित कदापि नहीं होते मानो त्रैलोक्य लक्ष्मी के भाल पर कस्तूरी तिलक हो। तुम तो जन्मते ही इतने आकर्षक और सुचिक्कण थे मानो हमारी सौभाग्य श्री के नेत्रों में लगा सिद्धाञ्जन ही साक्षात् अंग-धारण कर प्रकट हो गया हो।

विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ।।५।।

हे कान्त ! आपके सरसिज के समान कर-सरोज जो आपको शरण ग्रहण करने वाले सभी संसार चक्र से भयभीत जनों को अभय करते हैं, जिनसे तुमने लक्ष्मीजी का पाणिग्रहण किया है, और सभी की लालसा अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले हैं -- उन्हें हमारे सिर पर रख दो न ?

व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित।
भज सखे भवत्किंकरी: स्म नो जलरुहाननं चारु दर्शय !!६!!

अहा ! कितनी मधुर मनोहर तुम्हारी मुसकान है। जिन तुम्हारे अत्यन्त निकट के जिनजनों को यह अप्रतिम मुसकान देखने को मिलती है, उनका कण्ठ भर जाता है, वाणी रूद्ध हो जातीहै उनकी आंखे भर आती है छलकती हुई आंखे ही संकेत कर देती हैं कि उनका सम्पूर्ण मान मद चूर चूर हो गया है। उनके नेत्र स्पष्ट कहते हैं उस अप्रतिम मुसकान माधुरी को मैने देखा है परन्तु विधाता ने मुझे बोलने की शक्ति ही नहीं दी और वाणी में देखने की शक्ति नहीं है, अत: उसका यथार्थ वर्णन हो ही नहीं सकता। हे व्रज वासियों की सम्पूर्ण आर्ति के नाश करने वाले वीर ! हमसे रूठो मत ! हमसे प्रेम करो। हम आपकी तुच्छ दासी हैं। हमें अपना सुन्दर कमल मुख दिखाओ।

प्रणतदेहिनां पापकर्शनं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनं।
फणिफणार्पितं तेपदाम्बुजं कृणु कुचेषु न: कृन्धि हृच्छयम् ।।७।।
मधुरया गिरा वल्गु वाक्यया बुधमनोज्ञया पुष्करेक्षण।
विधिकरीरिमा वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व न: ।।८।।
तव कथामृतं तप्तजीवनं कविभीरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जना: ।।९।।
प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं विहरणं च ते ध्यान मंगलम्।
रहसि संविदो याहृदि स्पृश: कुहक नो मन: क्षोभयन्ति हि ।।१०।।
चलसि यद ब्रजच्चारयन् पशून् नलिन सुन्दरं नाथ ते पदम्
शिलतृणांकुरै: सीदतीति न: कलिलतां मन: कान्त गच्छति ।।११।।
दिनपरिक्षये नीलकुन्तलैर्वनरुहाननं विभ्रदावृतं।
घनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि न: स्मरं वीर यच्छसि ।।१२।।

नाथ ! कोई अपने इस अचिन्त्य सौभाग्य का अनुभव भले ही न कर पावे, परन्तु योगीन्द्र-मुनीन्द्र-दुर्लभ श्रीकृष्ण चरण सरोरुह में बिना इच्छा के जबर्दस्ती भी कोई झुक जावे उसके समस्त पाप उन चरणों में खिंचकर नष्ट हो जाते हैं। अहा, कालिय के मस्तक में स्थित मणिसमूहों से उद्भासित उन चरणों की कैसी शोभा थी, जब आपने ऐसे अत्यंत अधम सर्प को भी अपनी

कृपा का अयाचित दान दिया था। प्राणवल्लभ ! वे अनन्त श्री के आश्रय चरण कमलों से आप वन-वन भटक कर हमारे बछड़े चराते उनके पीछे-पीछे फिरते हो, उन चरणों को हमारे कुचों पर आप रख दीजिये, हमारा हृदय आपके विरह की आग में दग्ध हो रहा है, आपसे मिलन की आकांक्षा हमें सता रही है। हमारे हृदय की ज्वाला शान्त करने का यही अमोघ उपाय है।

कमलनयन ! आपकी वाणी कितनी मधुर है ! उसका एक-एक पद, एक-एक शब्द, एक-एक अक्षर मधुरातिमधुर है। बड़े-बड़े विद्वान् भी आपके वाक्य-विन्यास के अर्थो में रम जाते हैं, आपकी गीतोपनिषद् आदि वाणी पर वे कविजन अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देते हैं। आपकी उस मनोज्ञ वाणी को श्रवणगोचर करने के लिये हम आपकी दासी गोपियाँ मोहित हो रही हैं। दानवीर ! अब तुम अपना अमृत से भी मधुर अधर-रस पिलाकर हमें जीवन दान दो, हमें तृप्त ही नहीं, छका दो।

प्रभो ! यह सत्य है कि ज्ञान होते ही अज्ञान जन्य संसार तत्क्षण नष्ट हो जाता है, परन्तु आपकी लीला-कथा कितनी अमृतमयी है। अहा ! क्या ही आश्चर्यमयी है आपकी लीला-सुधा। अनादि काल से अब तक बड़े-बड़े विधि-विधान से सम्पादित हुए यज्ञ आपकों तृप्त करने में समर्थ नहीं हो सके, वही तुम नित्य पूर्णस्वरूप होने पर भी गोपबालक रूप में इन गायों और गोपिकाओं का स्तन्य पान कर सदा तृप्त रहते हो। यद्यपि गायों का, गोपरमणियों का, स्तन्य दुग्ध स्थूल दृष्टि से देखने पर अन्नपान आदि से उद्भूत देह-विकार मात्र वस्तु ही तो है, परन्तु धन्य है, तुम्हारी लीला कि तुमको इनके स्तनक्षरित दुग्धामृत का श्रीमुख से चूस-चूस कर स्वाद लेते, स्वाद ले-लेकर तृप्त हो जाते हम सब प्रत्यक्ष देखते हैं। उन गौओं एवं व्रजरमणियों पर आपकी कृपा की पराकाष्ठा ही तो है यह। आपके ऐसे अमृत-गुणों का, विरह से सताये तुम्हारे भक्त लोग कीर्तन करते-करते सदा तन्मय रहते हैं। प्रेम की विचित्र लहरें उनके अन्तस्तल में निरन्तर छायी रहती हैं भूलोक में वे ही सबसे बड़े दाता हैं। तुम्हारी लीला-कथा-श्रवण मात्र से सारे पाप, ताप तो मिटते ही है परम मंगल एवं कल्याण का दान भी वह करती है, वह परम मधुर, परम सुन्दर एवं बहुत विस्तृत भी है। इसीलिये बड़े-बड़े ज्ञानी महात्मा और कविलोग भी उसका गान करते रहते हैं।

हे प्राणवल्लभ ! एक समय था जब अपने कोटि-कोटि प्राण-प्रतिम तुम हमारे प्रियतम की प्रेमभरी मादक मुसकान और रसभरी चितवन का मात्र

ध्यान करके हम आनन्द में मग्न रहती थीं। जब तुम गोचारण के लिये वन में पधारते उस समय एक विचित्र सी दशा में अवस्थित हुईं हम निर्निमेष दृष्टि से तुम्हारी ओर देखती रहतीं। क्रमशः तुम हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते। उस समय तुम्हारी तरह-तरह की क्रीडाओं का ध्यान करती हुई हम कितनी देर पश्चात बाह्यज्ञान में आतीं, यह कहना कठिन है। जब हमें अपने शरीरों का भान भी होता तब ऐसी प्रतीति होती कि प्राणों में आपाततः एक वेदना भर गयी है। यह उस समय कहना कठिन था कि हमारे प्राण क्या चाहते हैं ? जब हम तुम्हारे मुख सरोज को नहीं देख पातीं - इस स्वल्प अदर्शन के समय भी हमारा अन्तस्तल सूना हो जाता था। प्राण तुम्हारे दर्शन के लिये सर्वथा मचले होते। वह तुम्हारा स्मृति-रूप-ध्यान जो दिन भर बना रहता वह भी परम मंगलदायक था। उसके पश्चात् तुम मिले। तुमने हमसे हृदयस्पर्शी ठिठोलियाँ कीं। प्रेम की बातें कहीं। हमारी विरहाग्नि जो अन्तस्तल के प्रत्येक अंश में अलक्षित रूप से धक् धक् जल रही थी, प्रशमित हो गयी। परन्तु हमारे कपटी मित्र ! आज जब तुम पुनः हमें निराश्रित इस वन में छोड़ गये हो, हम तुम्हारी उन्हीं बातों को स्मरण कर रहीं हैं।

हे नाथ ! तुम्हारे चरण इतने सुकोमल हैं, मानो सुन्दरतम श्याम तमाल के नीचे किसी ने रक्तकमल बिछाये हों। ये रक्तकमल पराग का उपहार एकत्रित कर हमारे मन-मधुकर के प्रीति-भाजन बन गये हों। जब तुम गोचारण के लिये निकलते हो, उस समय यह सोचकर कि तुम्हारे इतने सुकोमल चरण, कंकड़, कुश-काँटे गड़ जाने से पीड़ित होते होंगे, हमारा मन बेचैन हो जाता है, हमें अतिशय दुख होता है।

जब संध्या होती है, तुम वन से घर लौटते हो। उस समय हम तुम्हारी निराली शोभा देखती हैं -"घुँघराली अलकें कपोलों पर, ललाट के कुछ अंश पर झूलती रहती हैं। गोखुरों से बिखरे हुए धूलिकण उड़-उड़कर उन अलकों पर पड़ते रहते हैं। नेत्रों की मनोहर चितवन एवं अधरों पर व्यक्त हुए स्मित की शोभा देखते ही बनती है। तुम अपना वह अलौकिक सौन्दर्य हमें दिखा-दिखाकर हमारे हृदय में मिलन की आकांक्षा एवं प्रेम उत्पन्न करते हो।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि।
चरणपंकजं शंतमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ।।१३।।
सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितं।

इतरराग विस्मारणं नृणां वितर वीर नः तेऽधरामृतम् ।।१४।।
अटति यद्भवानह्नि काननं त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्।
कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड़ उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ।।१५।।
पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलंघ्य तेऽन्त्यच्युतागताः।
गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ।।१६।।
रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणं।
बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धामते मुहुरति स्पृहा मुह्यते मनः ।।१७।।
व्रजवनौकसां व्यक्तिरंग ते वृजिनहन्त्र्यलं विश्वमंगलं।
त्यज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्रुजां यन्निषूदनम् ।।१८।।
यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूर्पादिभिर्भ्रमतिधीर्भवदायुषां नः।।१९।।

हे प्रियतम ! सत्य तो यह है कि भक्तजनों को, जो निरन्तर आपके चरणों में प्रणाम करते रहते हैं, आप कृपापूर्वक समस्त मनोरथों का दान करने वाले हो ; इसीलिये नखचन्द्रिका से उद्भासित आपके कमल सदृश चरणों की अर्चना स्वयं लक्ष्मीजी निरन्तर करती रहती हैं। और हम तो प्रति दिवस ही यह अनुभव करती हैं कि रक्तपद्म की शोभा वाली आपकी पगथलियाँ जैसे ही धरादेवी पर पड़ती हैं, वे सुख में हरी हो जाती हैं और आपके चरण-चिह्नों को आभूषणों की तरह अपने अंगों में विजड़ित कर लेती हैं । और हे लीलामय ! विपत्ति में पड़े हुए प्राणी के तो एक मात्र ये चरण ही ध्येय हैं, इन चरणों के सिवा उसकी तो कोई गति ही नहीं है। सर्वभयहारी जो वे हैं। हे रमण ! हमारे हृदय की प्रेमव्यथा का हरण करने के लिये उन्हें आप हमारे उरोजों पर रख दीजिये । !!१३!! हे वीर ! तुम्हारा अधरामृत मिलनके सुख की आकांक्षा को अतिशय बढाने वाला है; वह विरह-जन्य सब शोकों का नाश करने वाला है, अहा उसे यह बाँस की वेणु भली भाँति चूम-चूम कर पान करती छकी रहती है। जिन्होंने एक बार भी उसे पान कर लिया उनकी उससे इतर सभी आसक्तियाँ सर्वथा सर्वाश में विस्मृत हो जाती हैं। हे प्रेमवीर ! हमें वही अधरामृत पान कराओ(वितरण कर दो) !!१४!! प्राणप्यारे! दिन के समय जब तुम वन में विहार करने चले जाते हो, तब तुम्हारे अदर्शन में हमारा एक-एक क्षण युगों के समान व्यतीत होता है, और संध्या के समय जब

हम तुम्हारी घुँघराली कुंचित केशराशि से मण्डित मुखारविन्द को देखती हैं तो हमरी पलकें ही गिरना बंद हो जाती हैं, उस समय यही लगता है कि इन पलकों को बनाने वाला विधाता सर्वथा मूर्ख है।।१५।। प्राणवल्लभ ! हम अपने सर्वस्व (पति-पुत्र,भाई-बन्धु, कुल-परिवार) सबका त्याग कर उनकी इच्छा और आज्ञा का उल्लंघन करके तुम्हारे पास आयी हैं। हम तुम्हारे संकेत को समझकर तुम्हारे मधुर वंशीध्वनि से मुग्ध हुई यहाँ आयी हैं। हे कपटी ! इस प्रकार रात्रि के समय आयी हुई युवतियों को तुम्हारे सिवा और कौन छोड़ सकता है ? प्यारे ! एकान्त में तुमने मिलन की आकांक्षा जगाने वाली वार्ताएँ हमसे की हैं। हमसे ठिठोलियाँ की हैं, तुम प्रेमभरी चितवन से देख-देख कर मुसकाते थे और हम मुग्ध हुई, तुम्हारे विशाल वक्षस्थल की शोभा में रम जाती थीं, जो लक्ष्मीजी का नित्य निवास है।

तबसे तुम्हें पाने की हमारी लालसा बढती ही जा रही है। प्यारे ! अब तो हमारा मन अतिशय मुग्ध होगया है। प्यारे ! तम्हारा व्रज में प्राकट्य हम व्रजवासियों के सम्पूर्ण दुख-ताप को नष्ट करने वाला है, यह विश्व का पूर्ण मंगल करने के लिये है। हमारा हृदय तुम्हारे प्रति असीम लालसा से भर गया है। कुछ ऐसी औषधि दो, जो तुम्हारे निजजनों के हृदय रोग का सर्वथा निर्मूल नाश कर दे। ।।१७।। प्रियतम ! तुम्हारे चरण कमल से भी सुकुमार हैं। उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर रखती भी डरती हैं। कहीं उन्हें हमारी कुच कर्णिका चोट न पहुँचावे । उन्हीं चरणों से आप रात्रि में घोर जंगल में छिपे-छिपे भटक रहे हो। कहीं कंकड़ पत्थर आदि की चोट लगनेसे वे आपके चरण पीड़ाकुल नहीं हो रहे हों - इसकी आशंका से हमें चक्कर आ रहा है, हम मूर्च्छित हो रही हैं। श्रीकृष्ण ! श्यामसुन्दर !! प्राणनाथ !!! हमारा जीवन तुम्हारे लिये है, हम तुम्हारी, तुम्हारी सर्वतोभावेन तुम्हारी ही हैं।

जगत के जीवों ! देखो मुझ एक साधन-भजन-हीन तृण पर कैसी महती भगवत्कृपा महज्जन चरण-रेणु द्वारा हुई है। मैं गोपियों के विरहावेश एवं उनके इस भावभरे गायन से स्वयं अभिभूत और स्पन्दित होने लगा और इन गोपियों के साथ ही विरहाविष्ट .हुआ परम करुण स्वर में उनके साथ ही विलाप करने लगा। ठीक इसी समय मुझे विलक्षण अनुभव हुआ। मेरी समग्र अस्मिता ही श्रीकृष्णमयी हो गयी । मुझ तृण का कलेवर तो मात्र एक झीना सा परदा ही रह गया और उसके अन्तराल में भर गये मात्र प्रियतम श्याम

सुन्दर । उनका मुख-कमल मन्द-मन्द मुसकान से विकसित था। गले में वनमाला झूल रही थी। पीताम्बर धारण किये थे। शरीर की श्यामल आभा मरकत मणि की शोभा को तुच्छ बना दे रही थी । पीताम्बर परिधान संध्याकालीन पीताभ मेघ की कान्ति को लज्जित कर रहा था। मयूर पिच्छ शोभित किरीट अपनी प्रभा से सुमेरु शृंगों को मलिन कर दे रहा था। मुक्तामाला शैल के वक्षस्थल पर प्रवाहित जलधारा की एवं वनमाला सुमन समूहों की शोभा को प्रतिहत कर दे रही थी। कोटि-कोटि कामदेवों के भी मन को मथने वाले उस रूप को अपने रोम-रोम में भरा पाकर मैं निहाल हो गया। मेरे शरीर में दिव्य प्राणों का संचार हो गया। तृण शरीर के रोम-रोम में नवीन चेतना, नूतन स्फूर्ति हो गयी। बस, इसी समय एक विलक्षण घटित हुआ। मेरा तृणभाव सदा-सदा के लिये समाप्त हो गया और मैं एक परम सुन्दरी गोपी बना उन महाभागा गोपांगनाओं में सम्मिलित हो गया। मैने अतिशय प्रेम से अपने प्रियतम श्रीकृष्ण के कर कमल को अपने दोनों हाथों में ले लिया और मैं उसे धीरे-धीरे सहलाने लगा। प्रियतम ने उसी समय मुझ पर अपनी तिरछी चितवन से प्रेम की बौछार कर दी और अपने चन्दन चर्चित भुजदंड को मेरे कंधे पर रख दिया। और तब मुझे आकृष्ट कर मेरे मुख में अपना चर्चित ताम्बूल उगल दिया। बन्धुओं ! तबसे एक अभूतपूर्व रस से आविष्ट मेरा जीवन हो गया। जिसका वर्णन मैं क्या साक्षात् सरस्वती भी नहीं कर सकतीं। अब तो अनवरत मैं गोपी बनी निर्निमेष नयनों से अखण्ड उनका मुखकमल मकरन्द रस-पान करती रहती हूँ। कभी तृप्ति ही नहीं होती। अब तो यह स्मरण ही नहीं रहा कि कभी मैं एक तुच्छ तृण था। प्रियतम प्राणवल्लभ का अखण्ड आलिंगन करते रहने से मेरा रोम-रोम सदा खिला रहता है और महासिद्ध योगियों से भी उत्कृष्ट परमानन्द में मैं डूबी रहती हूँ। मेरी हृदयगत शान्ति कैसी है, मैं कुछ कह नहीं सकती ?

हे जगत के जीवो, यदि तुम्हें मेरे सत्य पर तनिक भी विश्वास हो, यदि तुम्हें कहीं महज्जन भगवत्कृपा से प्राप्त हो जावें तो उनकी चरणधूलि से अपने रोम-रोम को भर लेना । उनका कायिक, वाचिक, मानसिक संग किये रहना और उनके चरणों में अपने को सर्वतोभावेन समर्पित कर सको तो कहना ही क्या है। यही मेरी एक तुच्छ प्रीति भरी तुम सबसे प्रार्थना है।

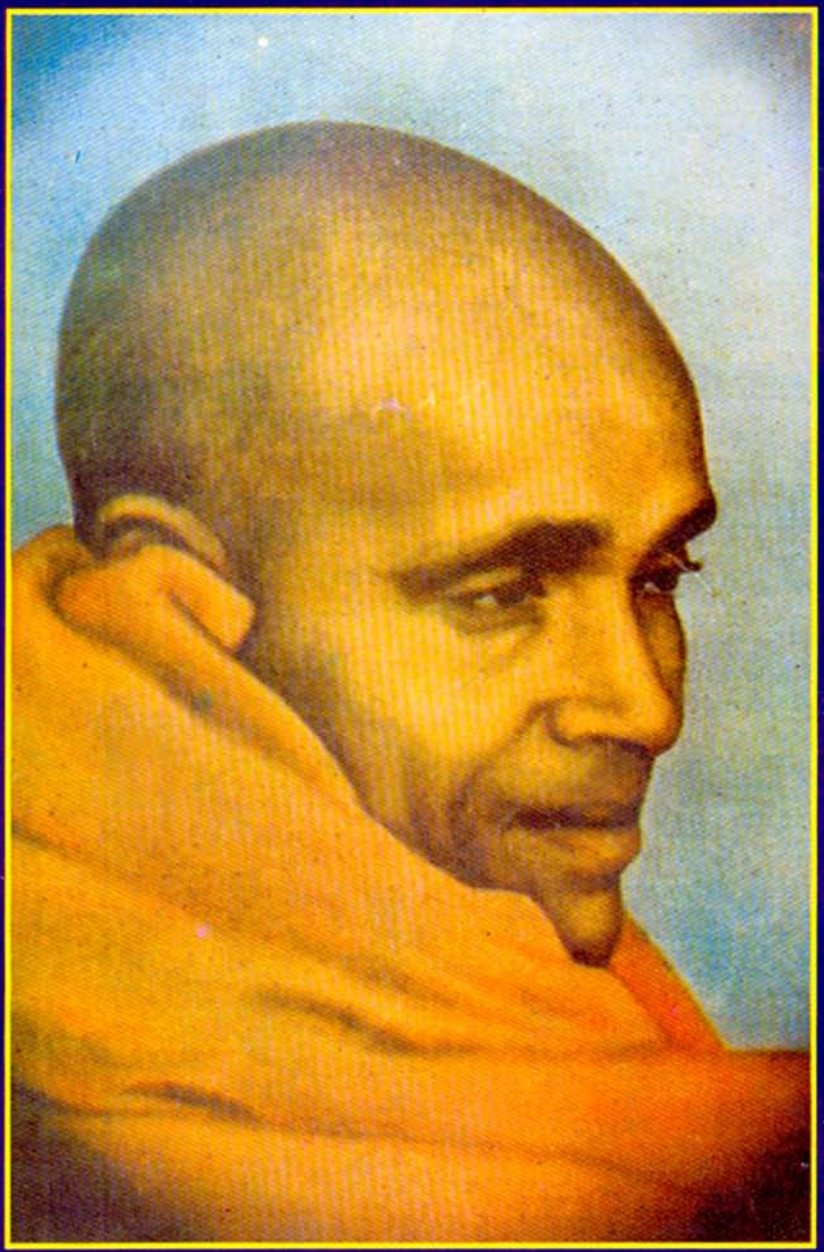

निर्मल लहरें स्नेह–सिन्धुकी नित उद्वेलित जिनके अन्तर